



आगमोद्धारक-प्रथमालया चतुर्विंश रत्नम् ।

णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स  
पू आगमोद्धारक-आचार्यप्रवरश्री-आनन्दसागरमूर्तिधरेभ्यो नमः ।



आगमोद्धारक-कृतिसन्दोहः ।

नस्याय जैनगीता-आगममहिमा-मुनिवसनसिद्धिदृतित्रयरूप  
पञ्चमो विभाग. ।

श्री राजवादे संशोधन मंडल, जयपुर  
संग्रहक

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीम-माणिक्यमागर-  
सूरीश्वरजिप्य शताग्रधानी मुनिलाभसागर

प्रतय ५०० ]

[ मूल्यम् ०-०० पै

गीर सत्रत् २४१० — वि सत्रत् २०२० — आ स १५

प्रकाशक :

आगमोद्धारक-ग्रन्थमालाका एक कार्यवाहक

शा. रामणलाल जयचंद

कपटवंज ( जि. चेडा )

द्रव्यसूत्रायक :

३. आगमोद्धारक-आचार्यश्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी  
मधाराजना शिष्यगन्त गणिवर्यश्री चिदानन्दसागरजी  
सगराजना सदुपदेश्यश्री मानेगाम जनसर्व ज्ञानखाता  
नरार्थी ।

मुद्रक :

संगठभाट धोरीभाट पटेल

मेनेजर

भाण्डारी आपस्यानु बटोदगा लि

गठगुग गठगुग.

# शुद्धिपत्रम् ।

| पृ | प  | अशुद्धम्     | शुद्धम्       | पृ  | प  | अशुद्धम्    | शुद्धम्    |
|----|----|--------------|---------------|-----|----|-------------|------------|
| १  | १३ | नाम          | नाम           | ६९  | ९  | पृथक्त्वे न | पृथक्त्वेन |
| ५  | १८ | भवे          | भवे           | ७३  | ८  | द्विका      | द्विमा     |
| ७  | ६  | वन्द्या      | वन्द्या       | ७५  | १५ | च्छ्यासो    | च्छ्यासो   |
| ११ | ५  | सेना,        | सेनाऽ         | ७४  | ३  | क्षय        | चय         |
| ११ | १० | क्रियात      | क्रियाऽत      | ७५  | १४ | चारन्       | चग्न       |
| १३ | १४ | उद्धे        | उद्धे         | ७८  | २० | परदा        | परदाऽ      |
| १६ | २० | धार०         | धार०          | ८०  | १२ | सविशेष      | स विशेष    |
| १७ | १८ | चये न        | चयेन          | ८१  | १  | सङ्गो       | सङ्गे      |
| १८ | ८  | मापु         | मापु          | ८२  | ७  | सुभ         | शुभ        |
| २९ | १३ | प्युर्गो     | प्युर्वी      | ८३  | २  | ग्रहित्व    | ग्रहो      |
| ३० | १  | तद्देत्रे    | तद्देत्रे     | ८६  | ८  | या          | ये         |
| ५१ | १६ | तत           | तत            | ९०  | १५ | जनतांनो     | जनाना      |
| ५३ | १० | सा त         | सा त          | ९४  | २  | शत्य        | शैत्य      |
| ५५ | १५ | सुकृते       | सुकृते        | ९५  | १३ | मङ्गय       | मङ्गय      |
| ५७ | २  | वाध्य        | वाध्य         | ९६  | ४  | कल्लिज      | कल्लित     |
| ५८ | १० | पेक्ष्यागुरु | पेक्ष्याऽगुरु | ९६  | ३  | संघ         | सङ्घ       |
| ६० | ३  | वा-          | वा            | ९९  | १२ | सत्त्वा     | सत्त्वा    |
| ६३ | १२ | मतान         | मता न         | १०३ | ३  | पदाङ्गसू    | पदाङ्गम्   |
| ६५ | ०  | भाधा         | भागा          | ९०६ | २  | सङ्घे       | सङ्घे      |
| ६६ | १९ | दापिता       | दोपिता        | १११ | ८  | दृगक        | देशक       |
| ६६ | १  | ऽसु          | सु            | ११२ | १  | यातेन       | याने न     |
| ६८ | ९  | निवृत्ति     | निवृत्ति      | ११२ | १८ | स्वभा०      | स्वभा०     |
| ६८ | १४ | नौघ          | नौघ           | ११४ | १९ | निगत        | निगीत      |

| पृ. पं. | अशुद्धम्      | शुद्धम्    |
|---------|---------------|------------|
| ११५     | ३ दशां        | दशां       |
| „       | १० च्छेदात्   | छेदात्     |
| ११७     | १० अधिकार     | अधिकार     |
| १२२     | ७ निजम्       | निजः       |
| १२५     | १९ धरेयुः     | धरेयुः     |
| १२६     | ६ स्तीर्यन्त  | नीर्यन्त   |
| „       | १० पुगात्     | पूगात्     |
| १२८     | १० मेकान्तिकं | मेकान्तिकं |
| „       | ११ „          | „          |
| १३१     | ५ यशसा        | यशसां      |
| १३२     | १८ यन्नात्    | यत्नात्    |
| १३३     | ४ कुलिशाभ     | कुलिशोऽत्र |
| „       | १५ प्रभव      | प्रभव      |
| १३५     | २ विषभां      | विषमां     |
| १३६     | ३ शुद्ध       | शुद्धि     |
| १४१     | १५ भावो       | भावो       |
| १५०     | ५ रत्रा       | रत्र       |

| पृ. पं. | अशुद्धम्     | शुद्धम्    |
|---------|--------------|------------|
| १५१     | १५ क्तो      | क्तो       |
| १५२     | ८ श्राद्धों  | श्राद्धीं  |
| १५३     | १६ न         | सु         |
| १५७     | ६ त्रिंशत्   | त्रिंशत्   |
| १५९     | १२ गमाना     | गमानां     |
| १६१     | १८ भवित्र्या | भवित्र्याः |
| १६६     | २ भवति       | भवति       |
| १७८     | ४ धर्म       | धर्म       |
| १८५     | ४ कायगा      | काय        |
| १८६     | १२ वधोः      | वधौ        |
| १८७     | ५ मुतो       | युतो       |
| १८९     | १७ देत्रे    | देत्रे     |
| १९४     | ७ स्थित      | स्थिति     |
| २०८     | ६ प्राप्तौ   | प्राप्तो   |
| „       | १० मवा       | भवा        |
| २१३     | ५ श्रय       | श्रयं      |
| २३१     | ४ शास्त्र    | शास्त्रे   |
| २३८     | १६ वधिक      | वधिक       |

## — विषयानुक्रम —

| अधिकार           | पत्राङ्कम् | अधिकार            | पत्राङ्कम् |
|------------------|------------|-------------------|------------|
| अहद्वयणनम् ।     | १          | अहिंसावणनम् ।     | ६१         |
| सिद्धयणनम् ।     | ३          | सत्ययणनम् ।       | ६७         |
| आचार्ययणनम् ।    | ५          | अस्तेययणनम् ।     | ७१         |
| उपाध्याययणनम् ।  | ७          | ब्रह्मचर्ययणनम् । | ७८         |
| माधुयणनम् ।      | ९          | अपरिग्रहयणनम् ।   | ८१         |
| सम्यक्प्रयणनम् । | ११         | जिनविभ्ययणनम् ।   | ८५         |
| ज्ञानयणनम् ।     | १५         | चैत्ययणनम् ।      | ९३         |
| चारित्र्ययणनम् । | १७         | ज्ञानयणनम् ।      | १०१        |
| तथायणनम् ।       | २०         | धमणयणनम् ।        | १११        |
| जाययणनम् ।       | २३         | धमणीयणनम् ।       | १२३        |
| अर्जाययणनम् ।    | २६         | आयकयणनम् ।        | १३२        |
| पुण्ययणनम् ।     | २८         | आयिकायणनम् ।      | १४४        |
| पापयणनम् ।       | ३३         | नेययणनम् ।        | १५४        |
| लाभययणनम् ।      | ३८         | माधुयणनम् ।       | १५८        |
| सर्वयणनम् ।      | ४४         | धर्मयणनम् ।       | १६३        |
| यययणनम् ।        | ४६         | ज्ञानयणनम् ।      | १६८        |
| तिनरायणनम् ।     | ५०         | सम्यक्प्रयणनम् ।  | १७४        |
| माधुयणनम् ।      | ५६         | आग्निप्रयणनम् ।   | १८२        |

## । प्रकाशकीय-निवेदन ।

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि. सं. २०१० ना वर्षे कपडवंज शहेरमां मीठाभाई गुलावचंदना उपाश्रये चतुर्मान वीराज्या हता । आ अवसरे तेओश्रीना पवित्र आशीर्वादि आगमोद्धारक-ग्रन्थमालानी स्थापना थपली हती. आ ग्रन्थमालाए त्यारवाद प्रकाशनोनी ठीकठीक प्रगति करी छे ।

तेओश्रीनी पुण्यकृपाए आ 'आगमोद्धारककृतिसंदोह'नो भाग ५ मो के जेमां 'जैनगीता', 'आगममहिमा' अने 'मुनिवसनसिद्धि' नामनी त्रण भव्य कृतिओ छे ते ग्रन्थने आगमोद्धारक ग्रन्थमालाना २४ मा रत्न तरीके प्रगट करतां अमने बहु हर्ष थाय छे.

आनी प्रेस कोपी तथा आनु संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्यश्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजीनी पवित्र दृष्टि नीचे शतावधानी मुनिराजश्री लाभसागरजीए करेल छे. ते बदल तेओश्रीनी तेमज जेओए आना प्रकाशनमां द्रव्य तथा प्रति आपवानी सहाय करी छे. ते वधा महानुभावोनो आभार मानीए छीए ।

लि०

प्रकाशक

1  
 णमोत्थु णे समणस्स भगवओ महावीरस्स ।  
 पू० आगमोद्धारक-आचार्यश्री आनन्दसागरसूरि-प्रणीता

## जैन गीता ।

। अध्याय प्रथम । ( अर्हदधिकार )

अर्हंतो मनुते देवान्, दर्शयन्तश्चतुर्दश ।  
 स्वप्नान् गर्भावतारे ये, मलजम्बालपर्जिता ॥१॥  
 जातमात्रा सुराद्रौ चेऽभ्यसिञ्चन्त सुरेश्वरै ।  
 न स्तन्यपा सुरानीत-फलात् उचितक्रिया ॥२॥  
 त्यक्तहिंसादिपाप्मानोऽकम्प्या परिपहान्भि ।  
 हत्वा घातीनि लज्जाऽप्य, ज्ञान सहायनिस्पृहा ॥३॥  
 साधुसाध्यं श्राद्धश्राद्ध्यश्चतुर्धासङ्घसङ्ग्रहा ।  
 आद्यन्तयामयोर्नित्य, शोचनानुगदेशना ॥४॥  
 देशका द्विविधे धर्म, जिननामप्रभावत ।  
 चत्वारोऽतिशया जाते सुरसायोननिगति ॥५॥  
 कैवल्ये त्वेकान्तैव, चतुस्त्रिंशत् सदाऽर्हताम् ।  
 मायात्रिनो न तान् धनु-भीशास्तादृशरूपिण ॥६॥  
 शम्भादिभिः कृता पृजा, प्रातिहार्याष्टकैर्दधु ।  
 अयोगिता गता मुक्ता, जन्ममृत्युर्जाऽन्तकै ॥७॥  
 सिद्धिं विना गतिर्नान्या, सप्त कैवल्यचित्सुखा ।  
 मयभक्षकवालम्य, भक्षका स्थिरतात्रिता ॥८॥



न व्यक्तिपूज्यतावादा, न भक्ताधीनतत्पराः ।  
गुणलभ्यपदोद्देशा, भव्योद्धारपथोद्घुराः ॥१९॥

भक्तिगौणा गुणा मुख्या, येषां निर्मलशासने ।  
सङ्घः पापपरावर्ती, सिद्धान्तः सिद्धिसाधकः ॥१०॥

भावप्राप्यफलाऽऽलाफा, निग्रहाऽनुग्रहोज्ज्विताः ।  
सर्वस्वातन्त्र्यमार्गस्य, यथार्हं देशका भुवि ॥११॥

नायुधैर्न च क्रोधाद्यै-रमीषां दूषिताऽऽकृतिः ।  
आत्माऽऽदर्शधरा मूर्ति-हैतुस्त्यागार्धियोऽमलः ॥१२॥

यस्याऽऽज्ञाराधना मुक्ते-हैतुस्तद्गुणसंश्रया ।  
भक्तिः श्रेष्ठतमाः सानु-रागा त्यागे तदीयके ॥१३॥

अमर्त्यमर्त्यसम्पत्त्योः, श्रद्धितिर्यग्गताऽऽपदाम् ।  
विधातृत्वेन लोकानां, न मृपावञ्चनापराः ॥१४॥

जगद्विधानस्थैर्यान्तै-र्भाषका न भवाङ्गिनाम् ।  
यथाकर्म फल प्राहु-रङ्गिनां हितकामुकाः ॥१५॥

एवंविधान् विविधभावमयाञ्जिनेशान्,

मन्येत यो विहितदानदयोद्यमश्च ।

हित्वाऽपरान् कुपथगामिन आत्तिवन्ध्यान्,

जैनः स एव ननु मुक्तिपदप्रधानः ॥१६॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

। द्वितीयोऽध्याय । ( सिद्धाधिकार )

सिद्धान् सिद्धगुणान् समग्रजगत प्रान्तस्थितान् सादिमाहू  
अध्वर्न्स्थानगतान् निहत्य निगिलान् समारपातप्रदान् ।

मूलात् कमचयान्निनात्मगुणतो लध्वाऽमिता मम्पद,  
ऋष्टान्तैकभुव शिनाध्ववहने वन्दत देघत्वधी ॥१॥

समस्तजीवा अमितादिकाला-न्निगोत्वासे व्यवहारवजिते ।  
कश्चित्ततो याति यदानुकूला, सलोकभाया भवितज्यताऽऽत्मन ॥२॥

भूत्यादिभावान् पृथगात्मसस्थान् प्राप्तो भवेत्स व्यवहारभाक् स्यात् ।  
तत्राऽप्यनतान् परिवर्त्तकालान्, बालो भवेत् क्षुद्रभवामिनन्दी ॥३॥

पुण्यादिहेतुष्वपि कालहेतो, प्रधानभावाच्चरम स यायात् ।  
आवृत्तमङ्गी शिवधामसङ्ग, तदैव नान्यत्र पुन स्पृहेत ॥४॥

स्वतोऽन्यतो वा यदि भयभाव, पको भवेन्मार्गमनुश्रयन् य ।  
मन्धवृत्तेरनुकारभान, भवेत् पर मोहमबन्धयन् म ॥५॥

सदागमाऽऽश्रिष्टमन प्रयन्धो, मान्यास्त्रिनातीन् मनुते प्रसन्न ।  
प्रशसको नैव भयाश्रिताना, निरक्तचित्तो भवभावमीते ॥६॥

जिनेश्वराह्वामविदन् धयेत स, सेवेत दान् सुगुरून् सुधर्मान् ।  
ध्रष्टोऽयरण्ये ननु याति मार्गं, सुष्टेगकोक्ते- शुभभाविजीवन ॥७॥

मार्गोन्मुग्य सन्मतिरज्जितायो, यदाऽर्धमावर्त्तमशोपयत स ।  
वसोपमाऽपूरमपूर्वमाप्य, भन्थि विमिन्धात् खलु पापराशे ॥८॥

विद्ध यथा मौक्तिकमेत्य पङ्क, नाविद्धमेव क्षतपापराशि ।  
कदापि नेहग् भविता निगोद, गतोऽपि भद्रस्य परात् प्रभावात् ॥९॥

विभिद्य मिथ्यात्वमनन्तमूलं, द्वितीयभावेन भवेत्तृतीये ।  
सम्यक्त्वसम्पत्तिसहो लभेता-ऽऽस्तिक्यादियुक्तं हि गुणे तुरीये ॥ १० ॥

जीवादिमर्थं मनुते कश्चिद्धि-दमित्वनित्यत्वगुणं प्रमेयम् ।  
तथैव कर्ताऽनुभवी भवाब्धौ, स्वकर्मणां सद्व्यवहारदृष्ट्या ॥ ११ ॥

भव्यत्वपाके शिवसाधनानि, सददर्शनज्ञानयमानुपैति ।  
समग्रकर्मक्षयजातशुद्धि-निर्वाणमेति प्रगुणाऽऽत्मभावः ॥ १२ ॥

आस्तिक्यमेष्वेत्य द्विधा दयायां, प्रवृत्तवीर्यो भवभावभीरुः ।  
सनातने धाम्नि सदा रतः स, कषायवाञ्छैव जिनादितत्त्वे ॥ १३ ॥

महाव्रताकाङ्क्ष उदग्रवीर्या-भावाद् भवेत् कोऽपि गृहिव्रतोत्कः ।  
अभ्यस्तशिक्षः श्रमणत्वमेति, विहाय हिंसादिभवाऽऽश्रवान् सः ॥ १४ ॥

मोहक्षयायोद्यत आप्तवीर्य-श्रेण्या समस्तं विनिकाप्य मोहम् ।  
स केवलीभूय सयोगभावो, जिनोऽपि कश्चिद् भवतीह जीवः ॥ १५ ॥

तीर्थ विधायैति स चापलेइय-मयोगमेषोऽपि लभेत सिद्धिम् ।  
भेदा यतः षड्विंश प्रसिद्धा, अनन्तरं सिद्धिपदं गतेषु ॥ १६ ॥

एवं दुर्दान्तकर्मक्षपणकविधया लब्धसिद्धस्वभावा,  
नोच्छिन्ना ज्ञानशून्या न च भवजनना निग्रहानुग्रहाकाः ।

शश्वत्स्थानस्थिताश्चित्सुखततिकलिता भव्यजीवावलम्बा,  
ये सिद्धास्तान् सदा यो मनुत उदययुग् देवभावेन जैनः ॥ १६ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

। वृत्तायोऽध्याय । ( आचार्याधिकार )

वन्देताऽऽचार्यवर्यान् सुगुरुपत्परान् मोक्षमागंकलीना-  
 स्तीर्थेशैस्तुल्यरूपान् प्रवचनशबटोद्वाहकान् गच्छनाथान् ।  
 सूत्रार्थादशकर्वृन् प्रवरपटुमतीन् त्रिदिवानैकतानान्,  
 नित्य तीर्थस्य सारा त्रिन्धत उदयाकाङ्क्षुमान् य म जैन ॥१॥  
 गते तीर्थनाथे समस्तब्रह्मार्थे, शिव यो बह्वेत् तीर्थभाग नितान्तम् ।  
 यथाऽस्तगते वासरेशे निदेशे, प्रणीपो जगत्या पत्न्यप्रभासी ॥२॥  
 जिना जीवितान्त बहन्त्येव तीर्थे, मुतीय तथायैत इहोदिता नो ।  
 अघोद्घातकास्तीथरूपा मुनीशा, मता शासन यावन्ते सर्दिशा ॥३॥  
 जिनेश शिवाध्वा समस्ताङ्गिसान्ने, सभाया पुर स्थापितो दोषमुक्त ।  
 मुनीना शुचिश्रावकाणा पर त, सदा सूरिवर्या बहन्ते प्रकामम् ॥४॥  
 वृताथा यथा सार्थवाहो जनाना, सुतप्याऽध्वनि प्राप्नवित्राधनानाम् ।  
 तथा सूरिवर्या सुप्रिप्रधानान्, निवार्याऽऽपने मोक्षमाग नयन्ति ॥५॥  
 यथा तीर्थनाथान् समागध्य भद्र-गत्रय भये तीर्थनाप्रस्तृतीये ।  
 तथा सूरिवर्यान् समाराध्य जन्तु-स्तृताये भवे तीर्थनाथत्वभाक् म्यात् ॥  
 जिनशा भद्रयुर्थथाऽऽशातिता द्राग्, भवानन्त्यमिध्यात्वदानैःपक्षा ।  
 मुनीशारत्थपेत्यजानते नो, जिनेनाध्यमन्तार इहाऽमलाभा ॥६॥  
 पर सूत्रमल्प यदाऽसौ त्रिलुम्पेद्, भवानन्त्यमेतीह हित्वा सुदृष्टिम् ।  
 यदा तु प्रकाशेत सम्यक्तया तत्, म शास्त्रेण गीत सुमरिवरिष्ठ ॥७॥  
 मुनीक्षा समस्तैत उन्घातदक्षा गृहीत्वा गुरो पापहर्त्री मुनिश्वाम् ।  
 समभ्यम्य सूत्रा ऽयुम्न समेत्य, ह्यपरभापना सद्घतथापनी प्राग् ॥९॥

द्वादशाब्दी गुरुपास्ते-रर्धात्याऽऽगमसञ्चयम् ।

कालं तावन्तमेवार्थं, भवेन् मन्त्रार्थयुग्मवित् ॥१०॥

विहारयेत् सूरिवरस्तमार्यं, साधोर्युगं देशविदेशभागम् ।

मुण्डेत् प्रतीच्छेच्च बहून् मुनीन् स,

विद्याच्च भाषां विविधां जनानाम् ॥११॥

जिनेशजन्मव्रतकेवलान्त-कृद्भूमिमेद्व्याऽमलदर्शनाढ्यः ।

ज्ञात्वा पदार्हं मुनिनाथवर्याः, पदेऽभिसिञ्चन्ति सहानगरैः ॥१२॥

मबालवृद्धे गण ईश एष, द्रव्यैर्गुणैः सत्परिवर्त्तनैः सह ।

पाल्येत तेनापि जिनानुकारं, तोष्येत तेनार्थपदानि ढक्त्वा ॥१३॥

सूरीन्द्रपट्टस्य यथावदादृतौ, भवेज्जिनः सज्जनुषां तृतीये ।

पञ्चाऽतिशेषा मुनिसार्थपेऽस्मिन्, स्वप्नेऽपि नेमेऽन्यमुनीश्वराणाम् ॥१४॥

आत्मर्णमोक्षं परिवाचयन् गणं, यथा विधत्ते सुगुणारतु शिष्यान् ।

निष्पाद्य पट्टे प्रतिभासमानान्, विधाय कार्योंऽन्तगतः समाधिः ॥१५॥

एवंविधान् गणधरान् विविधप्रकृत्या,

भक्त्या समर्च्य गुणगाननिबद्धलक्षः ।

आज्ञाधरो भवति दासनिकृष्टरूपो,

जैनः स एव जिनशास्त्रधरैः प्रगीतः ॥१६॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

। चतुर्थाऽध्याय । ( न्याध्यायाविकार )

नमेदुपाध्यायपत्नान्वितान् गुरु-नाचायपट्टस्य चर्तृरूपा ।  
 क्वचिद् द्वये मिन्नतमा क्वचिन्नो, पत्न्युध धारयतेऽपि कश्चित् ॥८॥  
 गन्धस्य तर्पितं निग्निला विन्ध्यु-राचायनिर्युक्तिधरा यतोऽमी ।  
 प्रवर्तकं मस्थविर गणात्र-चक्रेण गणिं चापि नियोजयन्ति ॥९॥  
 धन्या मुनीन्द्रा इव माधुर्यं -पर्यायत स्युयदि वा विहीना ।  
 पञ्चातिशेषा अपि सन्त्यमीषा, गणेशवत् सर्पफरा गणम्य ॥१०॥  
 म्हाप्येत सस्था धुगलैपिणा विद्वा, माध्य च तस्या म्चिकृन्नराणाम् ।  
 रयाप्येत नित्त न तथापि तस्या , फल तक्ञ्चालनमन्तरेण ॥११॥  
 मञ्चालकाणा मतिवाक्त्रियाणा, सौन्दर्यमिद्वत्या फलमाप्यतेऽस्या ।  
 अशिक्षिताभ्यस्तकला न तस्या , फल लभेयु स्पृहयात्प्रोऽपि ॥ १२ ॥  
 छात्रा यथा माधुर्यं जिनेशा-श्रितेऽत्र धम धरत्राचकाम्ते ।  
 मत्र त्रियायुक्तमुत्तरभावा , मत्पयन्तीष्टफलाय तानि ॥१३॥  
 नृपा यत्रा कोशसमृद्धभावा, भ्रान्त आत्माऽन्यत्रिभासनोत्पना ।  
 अङ्गादिमत्राममरत्नधारी, जनाऽन्यविद्येषु स त्राचक स्यात् ॥१४॥  
 त्रिणादिनीत मत्त स्वत्रिणा त्रिना प्रमात् परिशीलते य ।  
 म्नाध्याग्लीनो गतमत्तभावा , मध्यत्यसौ वाचक आगमेषु ॥१५॥  
 दु खानि मौख्येन युतानि त्रिस्त, आरयाय सुस्थो भवतीह तद्वत्  
 मुनीश्वरेभ्यो जिनशाम्बह्व , ममर्ष्य तुष्टिरत्राचकस्य ॥१६॥  
 पञ्चाशःऽऽचारमुत्पान्युपाङ्गा-पपातिकार्त्तानि दश द्वये च ।  
 पञ्चेऽमूत्रा ऽग क्षीणानि, मूल उत्तरा वरतीद्वदुद्धि ॥१७॥

राष्ट्रं च भारमखिलं प्रजयाऽऽयतीक्ष्णो-  
ऽमात्यो यथा वहति भूतिकरो नृपाणाम् ।

श्रीवाचकेन्द्रवितताखिलगच्छसारः ,

सच्छासनेन जयमेति मुनीश्वर्यः ॥११॥

रत्नानि राजकुललब्धमहांसि जातेः ,

शम्यानि ते यदि भवन्ति गुणान्वितानि ।

जीवादिसार्थवहनानि पदानि सन्ति,

श्रीवाचकान्तिक उदारतराणि सूत्रैः ॥१२॥

सूत्रानुयोगकृतिषु प्रवराः पतन्ति,

पादेषु विन्नविजयाय कृतज्ञतायै ।

बुद्धा जिनेश्वरमुनीश्वरसङ्घतेषु,

वंशस्य वाचकततेरपि शुद्धि ( शास्त्र ) सिद्धये ॥१३॥

अनुयोगधरा. परमेष्ठिपदे, विधिसिद्धपदान प्रणमन्ति मुदा,

अनुयोग इहास्ति जिनेशततो, वरिवर्तति दक्षिणतो भरते ।

अनुयोग इह गुरुस्कन्दिलसन्मुनिपान्तिषदा समसूत्रगतः ,

नागार्जुनसूरिवरेण ततो नमति श्रद्धावलिकः सुजनः ॥१४॥

शुभवाचकवंशगता मुनिपा, विदिता जगति स्वाति (सूरि) प्रमुखाः ,

वरनन्दिकरोऽपि च नन्दिकरो, वरवाचकदेव इहैव मतः ।

आवश्यकमादिमतं मुनिपै-रुदेशमुखत्रितये क्रमतो,

नन्दिः पुनरध्ययनीयपदं, सकलेऽप्यनुयोगविधौ यमिनाम् ॥१५॥

यथा मुनीशः सकलेऽपि शास्त्रे, विभर्ति मुख्यत्वममानमाप्तिः ।

तथैव मुख्याः खलु वाचकेन्द्रा-स्ततो भवेज्जैनवरो नतस्तान् ॥१६॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

। पञ्चमोऽध्याय । ( साध्वधिकार )

चन्देत माधुगणमुत्तमसत्त्ववन्त,  
तात प्रमू सहजनिं ललना तनूजम् ।

राष्ट्र सुराज्यममितोत्सववृद्धिहेतु  
ज्ञातेयमथनिचय च जहौ स वीर ॥११॥

भ्राति भयेषु जननान्तकभारभुग्ना,  
नि सन्धसागरणामनिप्रार्यरूपाम् ।

ज्ञात्या शरण्यमरुहत्वथित सुप्रमं,  
पाप ममप्रमधम परिहृत्य न्धे ॥१२॥

सम्यक्त्वयोधचरणानि शिवकहेतो,  
सावग्ययोगप्रिरमेण युतानि घृत्वा ।

भावग्ययोगप्रिरत्तात सुगुरोश्च याव-  
ज्जीव नमार नवधा शिवसाग्नेऽङ्ग ॥१३॥

अप्रोपाजनमुद्भिन्न प्रिरतितो, मूर्च्छापनात मोऽस्तिमां-  
स्त्यः पापपरावणैकमहितो रौद्रात्तचित्तोदुर ।

जायन्तेऽधचया, त्रिलीनमयते धमस्य चेरगात्फणा,  
सङ्गात्तत्प्रिनुद्दथ शान्तमनमाऽमङ्गोऽभरञ्जानवान् ॥१४॥

सम्मूर्च्छिमाऽमितमनुप्रिनाशहेतु,  
पञ्चाश्रगर्भजनरा नरलक्षमाना ।

हृयन्त व्यतनर्गर्मिथुनेऽन तस्मान्,  
तत्याज योपित्यन सकलाषशान्त्यै ॥ ११ ॥

प्राणा धन व्यदृता नियतोत्तमाना,  
सोदु न शक्यमपहारहत तु तद्धि ।



मत्त्वैत्यसौ परिहरेद् ग्रहधारणार्हं,  
सर्वं नदत्त ( ह्यदत्त ) मपि वस्तु समस्तयोगैः ॥६॥

भूतादिनिह्वयमुखं विजहात्यसत्यं,  
संसारसागरमनन्तमुपेत्यमुष्मान् ।  
पापप्रधानमखिलाऽऽगमनिन्द्यरूपं,  
नैवाद्रियेत शिवसौख्यमनाः कदापि ॥७॥

मर्वाण्यघानि कणशोऽपहृतौ पटूनि,  
वार्याणि सम्प्रतिकराणि विशुद्धमन्ति ।  
मुक्त्वैकमाग उदितं जनुषां विनाशे,  
तत्याज तत् परवधं त्रिविधं त्रिधा यः (ऽसौ) ॥८॥

हिसादीनां यमोऽमौ प्रतिकलमुदयी मातृष्वप्रासु चेत स्या-  
द्रक्ष्यास्ता नैव चाप्साशनकमनवता ध्यानपाठौ भवेताम् ।  
नैवैवं सर्वसङ्घं प्रतिदिनमविता सुष्ठुवर्त्मानुवर्त्तां,  
यावज्जीवं च शुद्धं प्रतिवहति महद्ग्राममातुं शिवं सः ॥९॥

सुकराणि भवेयुरिभानि जने, श्रुतवाक्यमनुश्रयता सुधिया ।  
व्रतपट्कतया गदितानि बुधै-र्यदि रक्षति जीव (भिदां पट्कं )  
चयान् सततम् ॥१०॥

निखिलव्रतिनां हृदयं ह्यवने-ऽसुमतां प्रतिपत्तिरिहाण्तिमताम् ।  
नहि शक्यत एतदनक्षजये, विरतौ वतिसार्थ इतोऽक्षजये ॥११॥

न बुधोऽलसयोगयुतोऽध्ययनी, न विरुद्धसमागमहेतुधरः ।  
श्रमणत्वमनुत्तममायतते, तद्कलयमसौ विजहाति सदा ॥१२॥

स्वय साधन चेत् शुद्ध दधाति, परो हिंसनादि प्रवृत्त्योत्तदर्थम् ।  
 स्वर्गीयेतरे नास्ति भेदो वधे(ध)न—गार्यासनादि व्रती त्यम्नुमह् ॥१३॥  
 भवेद्यत् प्रताना मुनीना च यत्ना—द्वृत वस्त्रपात्रानुप्राहक तत ।  
 वरेत्रैव हिंसापरीहारहतो , पत्यङ्कमुख्य मुनिगट् तु, किञ्चित् ॥१४॥  
 वद्वेयथाऽगारप्रता तु सेना, सुग्राप्तये तद्वदगारिनिश्चा ।  
 मत्वेति नैरासन गृहपु, चरगतिमाश्रसुग्राप्तिद्वत्सु ॥१५॥  
 साधन यत्पि नाप्यते वहि , पापकृ मुनिपदंरुचारित ।  
 अन्तर करोति पापसङ्गम, साधन त्यजेत्तनोर्विन्नु घृपम् ॥१६॥

त्रिपाकतोऽधमन्ततेर्निवृत्ततेऽधसाधनात्,  
 शरीरसम्क्रियात् एनमा पत् त्रिनिश्चयान् ।  
 विदन्ति म्यकमभेत्प्रममरन्तो मुनि-  
 र्कर्म मन्दधाति सत्सु मयमाध्वयापनम् ॥१७॥  
 एवप्रिधान् मुनिरगनशनाम्बुवम्-  
 पात्रौषधादि विधिना प्रतिलम्भयन् म ।  
 द्यार्चनादिनिरत परमेष्ठिनश्च ,  
 स्याज्जैन एव करुणानिधिराममार्ग ॥१८॥

इति पद्ममोऽध्याय ।

। पठोऽध्याय । ( दशनाधिरार )

महिता ऽया ध्याता मिद्धा यनाग उपामिता,  
 विहिता येरा वाचरपदयोमुनीणपदोचिता ।

मुक्तेरिच्छा चेन्न स्वान्तेऽखिलं मृतमण्डनं,  
विदिताऽस्यान्तः सत्सम्यक्त्यः सुज्ञैर्न उदीरितः ॥११॥

आगमवाचो यस्य श्रोत्रैः श्रुत्वा शिवकामना,  
स्यादुत्कृष्टा भवभयभीतिर्हृदीप्रपदाप्तये ।  
साधनमस्या गुरुकुलसेवाविधित्सया वर्तनं,  
विघ्नापेतं विज्ञोपचितं देवार्चनमादृतम् ॥१२॥

पक्वे भावे भव्यत्वस्याऽसमे सुखदायिनि,  
भित्त्वा ग्रन्थि कश्चिद्भते भवी शुभभावनः ।  
यल्लब्ध्वा स्यात् परिमितभूतिर्नरः शिववर्त्मगः,  
षतितं न स्यात् सत्सम्यक्त्यं कदापि निरन्वयम् ॥१३॥

सत्तो विज्ञो मूर्खैः सदृग् योगत्रिककार्यतोऽ-  
पगते विमर्दे विज्ञो विज्ञो न वै जडतान्वितः ।  
भ्रष्टो दृष्टेः कालमनन्तं निगोदमुपाश्रुते,  
प्राप्ते भावे सत्सम्यक्त्यं ध्रुवं धरतीप्सितम् ॥१४॥

वर्त्मभ्रष्टः सद्भाग्यः स्याच्छुभेऽध्वनि विश्वसी,  
दैशकवाण्या इतरस्त्वितरे न चाद्भुतमत्र हि ।  
सम्यक्त्वी स्याज्जिनमार्गोक्तौ न परत्र कदापि हि,  
विश्रम्भोत्को नित्यं मिथ्यामतिः पुनरत्र न ॥१५॥

लब्ध्वाप्येतद्योगात् कुगुरोः श्रद्धाधनवञ्चितः,  
अज्ञानाद्वा हीनः स्याद्वाऽन्यथाऽनृतबोधताम् ।  
वेपं धर्मं जैनाचीर्णं चरन्नपि धिक्कृतो,  
हेयः सुधिया मार्गे विघ्नैः समो जिनधर्मिभिः ॥१६॥

योऽष्टाशभिर्नापयुक्ता अनोधसम पुन ,  
स्त्रीगन्धर्वैर्युक्ता मुद्रा धरन्ति भयप्रणाम् ।  
नेते दवा सार्थारम्भा न चापि गुग पन्,  
हिंसाद्यात्मा धमो नैराश्रिते ऋशमुज्वलाम् ॥७॥

स्यात् सम्यक्त्व पञ्चविभन् मुगे ह्युपगान्तिच,  
घटिकायुग्म सातप्रकृतीर्निनाड्य पर पुन ।  
क्षाधिकमितरन्मिश्र मिश्रान् पट्टात्रलिका पर,  
सास्यात् स्याद् वदकमन्ते मिश्रान् परमीरितम् ॥८॥

जैन वचन श्रद्धन्ते यद् विजयप्रिवर्जित,  
गतमिध्यात्त स्याद् द्रव्येण सम्यक्त्वयुतोऽसुमान् ।  
द्वारै सत्र सत्त्वादीना मन्ता न्दभःवतो,  
भावात्तस्य स्यात् सम्यक्त्व क्वाग्रहनिर्गत ॥९॥

प्रत्यक्ष तत्सम्यक्त्व स्यान्तीन्द्रियवेदिनो,  
लभ्य बुद्धेरस्तिकाद्यै स्वमात्मरतीप्सितम् ।  
जीवेऽन्यस्मिन् शुश्रूपायै प्रमीयत आन्तरात्,  
नैव कर्माधर्माद्यान भवाभयवेदिन ॥१०॥

पट्ट्या युक्त सप्तभिरशै भन्ना श्रुतिहेतुक,  
निश्चयपक्षेऽन्मय ग्यात्तुत प्रगमादिभि ।  
चिद्धरिद्धै पक्षेऽन्यस्मिन् युत विफलैरपि,  
प्राप्ते तस्मिन् स्यात्प्रामाना कृतिम्नूचिता मताम् ॥११॥  
नान्ये धर्मा षोढा जीवान् कदापि तु मन्वते  
हिंसा तेषा तीर्थ युक्ता स्थिरेतरजीवगा ।

तत्तस्मिन् स्याद्विसानियमो न वै परमार्थतः,  
सत्याद्यान्यचेवं तेषां ततो व्रतमार्हतम् ॥१२॥

जीवाजीवौ विश्वे सत्तां सदा धरतोऽन्वयात्,  
हेया ग्राह्याः के केऽत्रेति प्रधारणसंविदि ।  
तत्त्वानि स्युः सप्तेत्यत्र प्रमाधनवाधने,  
पुण्यापुण्ये क्षिप्ते मान्यान्युदाहरतो नव ॥१३॥

एतद्यो धरतेऽसुमान् दृढमतिः स्वप्नेऽपि नान्यान् सुरान्,  
धर्मास्तद्व्रत आदरेण मनुते संसारगर्तागतान् ।  
सर्वत्रेक्षत ईप्सितार्पणकरं जैनेन्द्रधर्मादरं,  
सोऽवश्यं शिवमश्नुतेऽत्र यदि वा जन्मान्तरे निश्चितम् ॥१४॥  
अनन्तशो ग्रैव्यभवानऽवाप, महाव्रतानां धरणप्रभावात् ।  
न प्राप पारं यदसौ स एव, लब्ध्वाऽद् एतीह प्रभावतोऽस्य ॥१५॥

लोके यथाऽऽश्वासपदं हितेच्छा, मुमुक्षुता धर्मधरे तथैव ।  
सम्यक्त्वरूपा निरघा न चेत् सा, सर्वोऽपि धर्मो लवणांस्वुसेकः ॥१६॥

एतल्लब्ध्वा वमति यदपि प्राप्नुते मोक्षमाशु,  
बीजं क्षेत्रे फलति रुचिरे योग्यकालेन सम्यक् ।  
सामग्न्यां तु प्रभवति न फलं बीजशून्यं हि जातु,  
ज्ञात्वैतत् स्याज्जिनवचनरतो यः स जैनो न चान्यः ॥१७॥

इति पष्ठोऽध्यायः ।

। मत्तमोऽध्याय । ( ज्ञानाभिहार )

ज्ञानम्यरूपममत्र मनुतेऽत्र तेन-  
 म्मनो रवेर्गुतिरियात्रिगुत्भृतग्य ।  
 मर्तामनामधिष्ठति मयलजभाय,  
 म्यात् तत्र स्वकीयवृजिनः प्रयमानमात्रम् ॥१॥

स्त्रीषो यथा प्रकटयेत् स्वप्नमर्थमायं,  
 म्यार्थायभासनमहो निद्रिलो हि बोध ।  
 प्रामाण्यधाम परधा विगुणोद्यशागो,  
 हेतुः मानन्ति सुनयोऽन्य इपीदमुखायान ॥२॥

अथ प्रयत्नं धर्मऽत्मन मत्तय,  
 प्रत्यक्षरूपमयधिप्रमुख तु तच्चात् ।  
 इन्द्रियमार्थधिपयोद्भवमात्रगुम्,  
 अक्ष मति भ्रूतमपीह परोऽममात् ॥३॥

कारणादिना इत्यादिना तु मत्ता,  
 मा मत्तया मुनिनाऽऽद्यहागर्गा ।  
 तत्र द्वय म्भवति तैत्तत्र पर प,  
 ता मम्भवत्यमताप्रभवो हि तत्र ॥४॥

बोधस्य स्यात् तद्विषयो यन्नामृत म,  
 तन्मात्रमैव भवति जीय तन्मभाय ।  
 म मत्तया यत् इत् तन्मुक्त्वमत्तय,  
 ममागिणो तदि भवति तद्विद्वान् ॥ ॥

एकाक्षतामधिगतः पृथिवीमुखेषु,  
 भ्राम्यन् प्रकर्षमयते तनुजातबुद्धेः ।  
 जिह्वादिजातमग्रतेऽथ विबोधभावं,  
 प्राप्य प्रकर्षनियतं विकलाक्षभावम् ॥६॥

क्रमोऽयमुत्क्रान्तिगतोऽसुमत्सु, ततो मतेर्भित्सु मतोऽयमुत्क्रमः ।  
 सञ्ज्ञी मनोलब्धिमुपाश्रितोऽक्षैः, स्वैः पञ्चभिर्युक्त उदित्वरः स्यात् ॥  
 स्वबुद्धबोधाय परैः प्रयुक्ता, वाणी पदार्थव्यवहारहेतोः ।  
 श्रुतं ततस्तत्त्वत ईरितं वरं, शिवादिबुद्धयै भविनां जिनेन ॥८॥  
 ज्ञात्वा तदुक्तं परमार्थबुद्धं, तीर्थ्याः परे तत् स्वकशासने जगुः ।  
 अज्ञानवन्तोऽग्रनुकारदक्षा-स्तल्लौकिकं गोचरतीतरूपम् ॥९॥  
 लब्धे द्वयेऽस्मिन् सुगुणे भवेद्धि, त्रयं समक्षं न विना कदापि ।  
 त्रयं ह्यवध्यादि क्रमाद्धि लभ्यं, न केवलादस्ति परो हि बोधः ॥१०॥  
 अरूपिवोधान्न परोऽस्ति बोधो, द्रव्याध्वकालाः सहिताः स्वभावैः ।  
 ज्ञात्वा समस्तान् प्रतिबोधयोग्या-नाख्यन् गणिभ्यः श्रुतमुक्तमर्हम् ॥११॥  
 श्रोता(त्रा)नुगुण्येन विभक्तमार्हतै-र्द्वयं प्रमाणं तु पुरा समूहितम् ।  
 मत्यादि पूज्यैः परबोधधर्मे-र्यथैव बुध्येत तथैव वाच्यम् ॥१२॥  
 ज्ञप्तिर्विमुक्तेषु न युत्क्रियाभि-र्ज्ञानत्वरूपेण तदेव तेषाम् ।  
 फलं ह्युपेक्षा भवकेवलानां, मत्यादिवोधेषु फलं ग्रहादि ॥१३॥  
 जीवादितत्त्वार्थमतिः प्रशस्या, हानाऽऽत्युपेक्षाभिरयेत् प्रबोधम् ।  
 यतः प्रवृत्तो दुरितं न वध्याद्, यतो भवेत् साधुमतेरसूनाम् ॥१४॥  
 अङ्गोपाङ्गादिरूपं बहुविधमुदितं सच्छ्रुतं श्रीजिनाद्यै-  
 स्तीर्थम्यावारभूतं श्रुतधर उदितस्तीर्थरूपो हि शास्त्रम् ।

आचारेषु स्थितात्मा त्रिधिवन्धगतिं वत्त ईष्टेऽन्यनिष्टे,  
तस्यास्तेर्न्यत्कृत्यिर्था भवति जगति वै सा तु मिथ्यात्वरूपा ॥१५॥

आचार्यान्पिपावली गुणप्रता देयेति शास्त्रोदिति ,  
सत्राऽपि गुणेषु तत्र गहिता काष्ठा त्वपायादिनी ।  
सा नैत्रा पर श्रुतार्थधरणे, साऽऽनश्यकी धारणा,  
ज्ञातैतत्त परमार्थशास्त्रविनयी जैनो भवेत् सर्वदा ॥१६॥

इति सप्तमोऽध्याय ।

। अष्टमोऽध्याय । ( चारित्राधिहार )

जैन म्यान् पापभीरुस्तत इह मनुते पापमुक्तान् मुनीशान्,  
यो यत्र प्राप्तमोदो भवति गुणपरेऽसौ ह्यवश्य पर तत् ।  
लघेतिज्ञातशास्त्रो गुणकणगहितोऽप्यर्चतीष्टान् मुनीद्वान्,  
शास्त्रे जैनेऽत्र तस्माद्व्यततिविरता माननीया परेण ॥१॥

अनाप्तितोऽमुमानय चिनोति कर्मसन्ततिं,  
शुभाशुभप्रयोगतोऽत्रताच सर्वदा भवे ।  
त्रिवुध्य तद्विरामभात्रसाधना श्रिय पत्,  
श्रयेन्मुनिश्चरित्रभाक् शिवाप्तिसाध्यचेतन ॥२॥

चारित्र हि तदेव यत् परिहरेद्दुष्टा त्रिया सवथा,  
शिष्टा योगस्तमुच्ये न वृणुते या या क्रियास्ता मदा ।  
रुद्ध्या त्वाशपद्वारसञ्चयममौ सत्रिर्परायुग् व्रती,  
म्याप्तीघोयमदान्तमानसरुचि तद्वान् त्रियै स्वान्ययो ॥३॥



चारित्रमाद्ये जिनाः समस्ता, उपार्जयामासुरुदग्ररूपम् ।  
सत्केवलं, तीर्थनिवर्तनां तत-श्चक्रुस्तथैवादृतमुक्तिभावाः ॥४॥

मुक्तेर्हि मार्गः प्रवरं चरित्रं, स्वलिङ्गमेतद्वि शिवाङ्गमग्न्यम् ।  
जिना न गृह्यन्त्यदशास्ततः स्व-लिङ्गेन सिद्धिः समुत्सर्गमार्गः ॥५॥

पथि स्वलन्तं वरसैवधीशं, दृष्ट्वा न चक्रे स्वलनानि कश्चिन् ।  
न यत् स मार्गो निधिलाभसिद्धे-स्तथैव गृह्यन्त्यदशे विमुक्तेः ॥६॥

पापेभ्यो किरता भवन्ति पशवः सङ्ख्यामतीताः परं,  
सर्वेभ्यो न परां चरित्रपदवीमापूर्यतस्तत्र नो ।  
इच्छाकारमुखा शुभानुगदिता शास्त्रे यतीनां सदा,  
सामाचार्युपपादनं नरभवे तस्या भवेन्निश्चितम् ॥७॥

यत् प्रोच्यते जिनवरैर्गदितेऽत्र शास्त्रे,  
सच्छासनं प्रवचनं च सुधावहाभम् ।  
चारित्रमेव न परं जिनपाः समांस्तद्,  
रक्तान् विधित्सव इदं पदमाप्नुवन्ति ॥८॥

ईर्याद्या विबुधैर्मताः प्रवचने या मातरोऽष्टौ तका-  
श्चारित्रं जनयन्ति प्रोपणमलङ्कुर्वन्ति तद्गोचरम् ।  
जातं पुष्टमभिश्चयन्ति चरणं ताः सर्वदा पालनां,  
मातं सञ्चरणं तदत्र गदिताः सत्याभक्तका मातरः ॥९॥

पापाश्रयाणां विरतेश्चरित्र, भवेद्यदि स्यादपयोगवृत्तिः ।  
समुद्रवतीं चरणी हि तिर्यक्, तद्वान्न कायादिमतां सुवृत्तेः ॥१०॥

ज्ञानं सञ्ज्ञानरूपं विरतियुतमल नान्यथा तेन युक्ता,  
मिथ्यात्वेऽज्ञानमात्रा सदसदुभयगा नैह बुद्धिश्च भौगात् ।

ज्ञानम्याप्तैः सद्द फल्मभिलषित सचरित्र नराणा,  
 द्वात्वेद् मा भवन्तु प्रवरगुणवरा सच्चरित्रेण हीना ॥१८॥

श्रामण्यपर्यायमधिश्रिता या, सुखासिकोक्ता परिवर्धमाना ।  
 मामत्रमेणोपरता तु वर्पात, तका न प्रोर्धैकरतोऽऽनुते वै ॥१९॥

ज्ञान तु दग्नयुत त्रितये गतीना,  
 नैनास्ति तत्र परम पन्मिद्धरूपम् ।

मानुष्यके नियतमेतन्प्राप्यते त-

न्नोनश्चरित्रमहिमा जिनमागसार ॥२३॥

यद्यपि सपरभेदतयेत्, चरण गन्ति तन्पि तपस्तन ।  
 अधिसहन तत्प्रतिपन्मत्र, केवलमेव न तत् विरतिर्नु ॥२४॥

गोत्र नीचमपैति यच्चरणतो बन्धो भवेदुच्चक्रे,  
 प्राप्तौ तस्य गतोपम जनततेर्मान्यत्यमभ्यागतम् ।

रङ्कोऽयस्य यत्नदरात्तुलयति स्व चक्रिणा सन्तत,  
 गोत्र प्राप्तनमथवृन्न हि भवेच्चारित्रलक्ष्म्यावृते ॥२५॥

तीर्थम्यातुल एष उर्जिततरो गीत प्रभावोऽसमो,  
 यत्सवाऽयधिकारयाज्जिनपदेऽस्याऽऽराधनाया स्फुटम् ।

एषोऽह जिनतामयाप ऋचिरा तन्मे नतिस्तत्प्रति,  
 तीर्थ तच्चरणान्वितो मुनिगण शेषास्तमेनात्रिता ॥२६॥

लोकानुभावजनित चरणे महत्त्व,

ज्ञान चतुर्थमुपयाति विना न यत्तन ।

लोकैश्चरा अपि लभन्त जपेत्य चारु,

व्रत्तत्समाचरतु जैनवर सदा तत् ॥२७॥

इति अष्टमोऽध्याय ।

। नवमोऽध्यायः । ( तपोऽधिकारः )

ज्ञाता जीवा अजीवाः परिहृत उदितस्त्वाश्रवाणां समूहः,  
साधित्वा संवरांस्तं नवतरमरुणद् वन्वमार्हन्त्यलीनः ।

यावन्मोक्षं प्रयातुं हृदयमभिसरत्यन्तरा कर्मजालं,  
प्राग्बद्धं विद्रवेन्मां न खलु मयि तपस्तत्क्षयार्हं यदि स्यात् ॥१॥

जीवोऽस्ति नैव, नहि यः क्षपयेद्घानि,  
कर्माणवो यदुदयं सततं प्रयान्ति ।  
निर्जीर्यतेऽघमुदितं भविनां मता सा-  
ऽकामा, न सा खलु शुभायतिराप्तमार्गं ॥२॥

तत्रापि योऽल्पमुपचित्य बहु क्षिणोति,  
सोऽभ्येति कर्मलघुताप्रभवां सुरूपाम् ।  
काष्ठां ततः क्रमगतां तु यथाप्रवृत्तां,  
लब्ध्वाऽपि तां शममुपैत्यसुमान् कदाचित् ॥३॥

लब्धे शमे परत आचरतीह कश्चित्,  
शुद्धेः पदं तप इहात्मसुवर्णशुद्धयै ।  
अत्रैव सा भवति कामयुता प्रशस्या,  
सन्निर्जराऽत्र्ययपदार्पणसाध्यरूपा ॥४॥

भृगुप्रपातादिकमाचरन्तो, दृश्यन्त उद्धारहृदो भवाब्धेः ।  
प्रेत्यास्ति नैवाश्रयणं त्वमीषां, कुबोधजं बालनिमग्नचेतसाम् ॥५॥

उदाहृतं बालतपः शमादेः, प्राप्तौ बुधैर्हेतुतया यदत्र ।  
तदुत्सवादिरिव साधनाप्तौ, क्षमं भवेऽनन्तश आहृतं यत् ॥६॥

तपो भग्नतदुदारनिर्जरा सिद्धये जिनोक्ताययसाध्यमुद्धया ।  
सूर्यस्य सहजान्तय इद्धरूपा, भिदोऽभ्य भाया द्वयधिका न्शैव ॥७॥

अनशनादिमद्य तप आदृत, भगति मोक्षपत्नय शमात्मनाम् ।  
अयनयुग्ममिप्राऽभ्य भिदाद्वय रवरिवाऽस्ति तपो ग्रहिरातरम् ॥८॥

आये पद्रे पूरं पूरं, धाय साधोरादौ शक्ते ।  
पूरं पूरं चान्त्ये फलद, पद्रेऽन्यमिप्राऽन्तरमेतत् ॥९॥

घन प्रसक्त घृतिन प्रियाम्या, मिध्याऽत्रतक्रोधमुराश्रिताऽङ्गी ।  
तच्चेत् क्षयेन्न तपोऽन्वितेन, सुसवरणाप्यत आत्मनाथा ॥१०॥

ज्ञानान्वितो हि भगवानपरगमिद्धि,  
जानाति निश्चयगता निजवे भगिनीम् ।  
तीव्र चरार तप आत्महितैपिभावात्,  
काय न जात्वकरण तप एव तद्धि ॥११॥

मोह निनाय नितरा श्वयभात्रमाप्य,  
सर्वाघनाशनपरा श्रयिनीमिहाऽऽलिम् ।  
प्राप्यापि केवलमनुत्तमयुग्मरूप,  
थानत् पर तप उपति न विमुच्यतेऽङ्गी ॥१२॥

अप्रोधितान्वितेन यानि जन्तुना निवाचिता-  
न्यघानि तानि भस्मसात् करात्यसौ तपो धृते ।  
योऽन्तराकृतिर्द्विधा तनोति तादृगहसा,  
विनाशमाप्यते गुणो न भेत्तन्तराऽहसाम् ॥१३॥

न चेत्तप स्याद्दहनोपमान, प्रवद्वक्त्रमन्धनदाहृक्षम् ।  
कथ चिरातीतकृताहृआलि, क्षिप्येत, मुक्तिं प्रगुणेच्च साधु ॥१४॥

तपः क्षिणोति चेद्व्यं पुरा भवार्जितं नहि,  
 कथं प्रमुच्यते जनः कृताहसां क्रमाद् भुजेः ।  
 अत्रुद्धवोधसङ्गतिर्न कर्मनाशमन्तरा,  
 यथैन आत्मवीर्यजं तपा हि नान्यथा यतः ॥१५॥

ज्ञानं सर्वपदार्थसार्थगमनं यावद्भवेत् केवलं,  
 चारित्रं विगतातिचारसुभगं यावद्यथाख्यातिकम् ।  
 आगच्छद्दुरितौघसंवृतिकरं स्थाने कपाटो यथा,  
 प्राक्कीर्णाघसमूहसह्यकरं शुद्धं तपः पावनम् ॥१६॥

सत्यं तपोऽस्त्यसुखरूपमिदं तु किञ्चिन्,  
 कर्मापसारणपरे मुदितात्मताऽत्र ।  
 कोट्या ऋणं विनयते ददताऽल्पमेव,  
 (जन्तुः) लाभस्ततश्च भविता वृजिनौघनाशात् ॥१७॥

सत्यं दुःखं न भवति दुरितोद्रेकशून्यं कदाचित्,  
 कर्माभावो मनसि समितः प्रेप्सितस्तद्वि धर्मान् ।  
 यावन्मोक्षो विमलनसहितो जातिमृत्योर्न जात-  
 स्तावत्सर्वे दधति मलिनं तत्तपो मुक्तिहेतुः ॥१८॥

यावान् कश्चिज्जगति जनितः कर्मजातः समग्रो,  
 नैवोत्थानं जननविगमयोः पापसङ्घं विना स्यात् ।  
 मन्ताऽऽपत्तेर्विलयपटुतां मन्दधात्यान्तरेऽस्याः,  
 कर्माणूनां विलयनपटुता सत्तपस्येव साक्षात् ॥१९॥

मोक्षो भवेद्भवभृतां समये तु यस्मिन्,  
 तस्मिन् भवेत् तपस एव परानुकाष्ठा ।

लक्ष्मणेऽप्यशेषगुणजात इय न यावत्,  
तावन्न मोक्ष इति सन्महिमाद्वयमेतत् ॥२०॥

बद्धज्वाला कर्मकाष्ठालिदाहे, मेघो दैवो ज्ञानमुरग्याऽऽयतलक्ष्याम् ।  
ससाराण शोषणेऽगस्तिरूपौ, निर्वाधार्य सत्तपोऽस्त्युन्तरूपम् ॥२१॥

भाय शुद्धो विमलमतिमता, गनमप्यादराढ्य,  
शम्य शील मदनहृत्तिकर वाक्पथातीतभावम् ।  
वमस्यैपाऽघनिचयहरणी शुद्धगङ्गा त्रिमार्गा,  
यात्रास्थान तप इह गन्ति सत्प्रयागाभमेतत् ॥२२॥

एवविध तप उदारधिया प्रगस्य,  
मत्वा निरन्तरमिहाचति तद्वतो न ।  
इच्छेत्तोऽयुपरताघसमूहमग्न्य,  
जन स एव ननु मोक्षपत्कलक्ष्य ॥२३॥

एव नवपत्त्रिमला बुद्धिं धत्तेऽत्र देवभिदि युग्म,  
भेत्त्रयमथ सुगुरौ निर्वाणपत्कसाध्यपरम् ।  
पूज्या परमपत्त्रयुता इमं सहाराधनीयता युक्ता,  
धमचतुष्कयुता नवपत्नी मन्त्र सत्रयेज्जैन ॥२४॥

इति नवमोऽध्यायः ।

। दशमोऽध्यायः । ( जीवाधिकारः )

जागर्ति जैनत्वमनुत्तर तद्, यत्राऽस्ति पूज्या परमेष्ठिन पग ।  
आराध्यताऽग्न्या नवपद्मनुश्रिता, जीत्रादितत्त्वानि नरैव चित्ते ॥२५॥

सर्वेऽप्यास्तिकतां श्रिता मतधरा जीवं परं मन्वर्ते,  
 पट्कायाश्रितमङ्गिनं यदि परं जैनाः सदा मन्वते ।  
 संसारं सरतां भिदा दशचतुःसङ्ख्या हृषीकादिगा,  
 नैगोदान् भवधारिणो गतमितीन् जैनो भवेद् धारयन् ॥२॥

औदारिकादिपरिणामतया तनूनां,  
 भूस्यादिषु प्रकृतिभेदमपि प्रयाति ।  
 अन्नादितः प्रभव एष तनुस्तथापि,  
 नृणां समस्ति नहि चैकविधो गृहीता ॥३॥

क्षित्यन्वुवद्विमरुतो वनकाययुक्ताः,  
 पर्याप्तभावमयिताश्च परस्वरूपाः ।  
 एकेन्द्रियाः क्रमगतेः करणाधिकाः स्युः,  
 अन्त्ये मनोऽमन उदित्वरपञ्चवन्तः ॥४॥

जीवाः समस्ता अविभिन्नरूपाः, सर्वजताद्यैः सहिता गुणैश्च ।  
 कर्मावृताः संसृतिसारिणः स्यु-र्वैचित्र्यभोगास्तु विदक्षयोगैः ॥५॥

विशेषशक्त्यन्वितजीवघाते. पापस्य बाहुल्यमतो मनन्ति ।  
 ततस्त्रसानां वधतो विरामो-ऽनिवृत्तपृथ्व्याद्विधस्य योग्यः ॥६॥

नृपाः प्रजारक्षणतत्परा यद्, धनं च राष्ट्रं च तदुत्थमग्न्यम् ।  
 गवादिकं साधनमायवन्ति, महाजनास्तद्वधकास्त्यजन्ति ॥७॥

कुतीर्थसम्भार इहारटेत्तु, त्रसं चलन्तं जीवरूपभाजम् ।  
 अनोभरैतद्वधपापमन्ता हहा ! परे स्वल्पमुशन्ति जीवम् ।  
 ( बह्वपलापिनस्त्विमे ) ॥८॥

वधस्त्रियोगान्वितसत्क्रियाभि-स्तदुत्थमंहः शुचितामुपैति ।  
 त्रियोगजातात्तपसः प्रभावा-ल्लुब्धाः कुतीर्थ्या धनशोध्यमाहुः ॥९॥

सप्तऽयधेभ्यो जीवजातघातान्, महत्तर पापमुशन्ति विजा ।  
 आत्मोपमानेन सुक्क समाचरेत्, परेषु चेष्टा जिनमागमन् ॥१०॥  
 म्वशीश्रणापेन भवन्ति दु खिता , ससारिणस्तत्र हृदुत्तिकार्यै ।  
 यभ्यान्ति व्रत्ति स ऽथाति पाप, मत्वेति हिंसाविरतो हि जैन ॥११॥  
 मपोक्तिमुरयान्यपि जैनमार्गे, मत्तानि पापान्यधमोऽन्यानि ।  
 पर प्रतीकारनिवृत्तिहीन, हिंसोत्थमेनम्वतिदुस्तरान्तम् ॥१२॥  
 कर्माग्रिता निमलतेषिणो जना, ऽत्रान् गुरुन् वमपटानि नित्यम् ।  
 सेवन्त आऽशतया ऽन्यधानि यथा प्रतीपात्रवर्दीपजम् ॥१३॥  
 ऽयम्वत्यान्ति भूत नहि जैनमाग, द्वादिदित्स्व स्वगुणार्पक न ।  
 निमित्तभावेन गुणान्वित वात् फलति सेत्राश्रयिणा नराणाम् ॥१४॥  
 लोकानुभावाऽन्वितभयताया, योगात् परावत्तमुपेत्य चान्त्यम् ।  
 आलभ्यतेऽत्रान् गुरुन्धमयुक्तान्, भया लभन्तेऽययधाम त्रयम् ॥१५॥  
 कालेन मो न गतयन्त इष्टं , मुसाधनैय ननु ते ह्यनता ।  
 भयो न तेषा गमितार ऽत्र, जीवाननन्तान् मनुतेऽत आप्त ॥१६॥  
 म्ब्रप्रवार प्रत्येन राध , त्वय प्रकल्पेन यथा न विद्म ।  
 मालेन सर्पण न मुन्दमाना, असङ्ख्यभागप्रमिता निगोपत ॥१७॥  
 उवा परे जीवविहिंसनादि-कार्य समुत्पत्तिमुशन्ति ऽर्भ्याम् ।  
 ऽथापरा ज्ञानमुक्कचरित्रे जैनाम्नतस्तेऽनघमोऽवगामिन ॥१८॥  
 मृतोऽगो नत्र जीवो, न च ममुत्पजो, नैत्र भागोऽन्यमत्को,  
 नाऽर्ता भोगहीनो न च, न च कलितोऽज्ञानमूर्च्छा, न चान्य ।  
 श्रित्याऽभूतवृत्तान न न परभयगो नैत्र जातो न नाऽपी,  
 ऽत्यक् चतन्यधर्तुन शिवपत्परमान जैन आख्याति जीवान ॥१९॥  
 इति ऽगमोऽथाय ।



। एकादशोऽध्यायः । ( अजीवाधिकारः )

जैनः सदा मनुत आत्मविभिन्नरूपान्,  
धर्मेतराभ्रसहितान् विविधाणुसङ्घान् ।  
जीवाणुसङ्गम इहानुविशेत्तु युक्तिं,  
मन्येत लोकमितरं क्रमतश्च चेद् ज्ञः ॥१॥

धर्मो गतौ भवति हेतुरिहाङ्गयणूनां,  
तपां स्थितौ प्रभववान् इतरो ह्यधर्मः ।  
अभ्रं तृतीयमवकाशमथो ददाति,  
वर्णादियुक्तमिह नास्त्यपपुद्गलं तु ॥२॥

भवेयुस्त्वणुभ्योऽङ्गवाङ्मानसादि-  
सुसौक्ष्म्यादिवन्धान्तयुक्तास्त एव ।  
द्विधा तेऽणवः रकन्धरूपा ह्यनन्ता,  
हि द्रव्यार्थताभेदयुक्ता अनाशाः ॥३॥

अभ्रे जीवै पुद्गले चाम्तिकायेऽनन्ता अंशा एकजीवे त्वसङ्ख्याः ।  
धर्मेऽधर्मे पुद्गलेऽसङ्ख्यकाम्तु, कालो द्रव्यं मानुपे लोक एव ॥४॥

यच्चन्द्राद्या गगनगमनतश्चारिणोऽत्रास्ति भागै,  
घस्राद्यास्तद्भुव इह मताः कालभागास्तथैव ।  
वृत्तिर्नामः कृतिरधिकृता सर्वदा सर्वभागै,  
कालस्यैपोपकृतिरपरा केन नैवाद्रियेत ? ॥५॥

प्रतिश्रणोत्पादविनाशनित्या-वस्थास्वरूपं सकलं हि वस्तु ।  
किञ्चित् स्वरूपेण पराश्रयेण, किञ्चित्त्वजीवा अपि तत्स्वरूपाः ॥६॥

परे कुतीर्थी प्रतिबोधशून्या, नचत्प्रजीर्णत्वमुखा क्रिया हि ।  
 अर्थेषु सात्वात् सकलेषु पश्य-न्त्यपि प्रवात् न वन्त्यनेकम् ॥५॥  
 मत्प्र सत्र जगतीह वस्तु द्रव्यप्रमुरैर्निनपययै स्यात् ।  
 पराश्रितस्तरमन्व नात्र, विरोधभावोऽस्ति विचक्षणानाम् ॥६॥  
 नामाकृतिद्रव्यपदाथरूपै , समन्वित सत्रमपीह दृष्ट्वा ।  
 नोरीकरोत्येष कथ कुतीर्थ्य , न्याद्वात्मुद्रानतिपाति वस्तु ॥७॥  
 मत्प्र पत्तये सहज न चान्य-सम्प्रन्वभावि प्रसिते गुणक्रिये ।  
 तुरङ्गशृङ्गेण समानमन्ये, मन्वध्य तद्वन्तमुदाहुरथम् ॥८॥  
 विचित्रभावा खलु पुद्गला समे, जीवग्रहे सन्ति त्रिधा प्रसिद्धा ।  
 औदारिकाद्या अमिता परा हि, म्वय क्रियायन्त उमापतेर्नहि ॥९॥  
 अणो स्वरूप न त्रिबुद्धमन्ये-रनन्तभागात्मकमेव दृश्यात् ।  
 तद्वत्प्रदेशस्य न चैभिरुड , कालस्य सूक्ष्म समय कुतीर्थ्यै ॥१०॥  
 जीवस्य बाध सकले ह्यनुग्रह, क्षम ह्यनष्ट तदिदं तु पौद्गलम् ।  
 आचार्यशुद्धे ध्रम आवृतीना, क्रयक्रमे तच्छिवमात्मभावि ॥११॥  
 अजीवगाद् परिन्श्यमानो, नष्टशब्द आहाऽत्र निपिद्वदशम् ।  
 चतन्यभात्रप्रतिषेधरूप पदाथरूप न तु शून्यताङ्कम् ॥१२॥  
 नित्यान्यस्थानयुतानि पञ्च, धर्मादिकानि प्रविभक्तिभाञ्जि ।  
 रूपादियुक्त परमाणुमुरय-मेक स्वय पौद्गलिकस्वरूपम् ॥ ५॥  
 यत्रापि चेतनविगुणा एते, ह्याम्पन्मेतदिहास्ति विहाने ।  
 मोक्षपथेकसहायकराणि, नृत्यमुरानि त्रिकभृता स्यु ॥१६॥  
 यात्रलोक धर्माऽधर्मा सिद्धिगिला यात्रतो च,  
 परतोऽलोके नहि तन्भावाद् गमन जीवाणूना धारात् ।

मृष्टेपादियुतं वरतुम्बं ब्रजति तले धृतजलनिकुरम्ब,  
अपगतलेपं तिष्ठेदुपरि तद्वन्मुक्तो भुवनतलोपरि ॥१७॥

तत्त्वे द्वे जगति स्तः तत्त्वात् जीवाजीवौ भिन्नाभावान्,  
नह्येतावन्मात्रोक्तौ स्याद्व्याऽऽदेयविवेकाभावात् ।

मोक्षपथप्रथम, तत उक्ता सप्त सुतत्त्वी तत्त्वार्थोक्ता ॥१८॥

अपेक्ष्यवादः सदसत्प्रवादो, विभज्यवादः परिवर्तनवादः ।

वादा अनेके जगतीह मूर्ध्नि, स्याद्वाद आख्यद् द्रविणे त्रिकालम् ॥१९॥

एवं जैनो जिनवरगदितेष्वगमेष्वेकचित्तो,

जीवाजीवौ मनुजमतिगतौ मन्यते शुद्धभावः ।

एवं साध्यं प्रवरमतिमान् रत्नत्रय्यात्मकं तु,

चित्ते धृत्वा नियतमुदयवान् जैनमायाति मार्गम् ॥२०॥

इति, एकादशोऽध्यायः - ।

। द्वादशोऽध्यायः । ( पुण्याधिकारः )

पुण्ये भेदा भविसुखकृतये विशती द्वे द्वियुक्ते,  
वेद्याद्युत्था यदि च भविनो ह्यानुकूल्ये ह्यपेक्ष्यम् ।

सम्यग्त्वाद्याः प्रकृतय उदिताः सर्वमेतद्वि सत्यं,

जैनो जैनं प्रकृतिसुभगं त्वाश्रयेत् स्यात्पदाङ्कम् ॥२१॥

अकामनिर्जरावलाच चिनोति पुण्यमुत्तम,

निगोदतः प्रयात्यसुस्ततो वहिर्निगोदताम् ।

ततस्ततोऽनुयात्यसौ दशां च व्यावहारिकी-

मुपैति सूक्ष्मवाद्दरक्षितिप्रभृतिभावताम्

॥२२॥

अनन्तपुण्यलाभता ह्यवामनिचगजला—

दुपैति उक्त्वा त्वा क्रमाक्षवृद्धिशालिनीम् ।

अनुक्रमेण पञ्चक यदेन्द्रियाश्रित भवेत्,

पुण्यलाभसम्भवेऽधिरेऽत्र मञ्जितोद्भवो,

नरत्प्रमायत्पेशजातिगोत्रधर्मिसङ्गम

॥३॥

य एष यात्यनाघृते पत्त समस्तकर्मणा,

क्षयात्नाघृतो भवी भव विहाय चोपरि ।

प्रचण्डपुण्यलाभज यत्पद्यमभ्रुते तनी,

शुभ तु कीकसाश्रय शिवेऽपि साधन ह्यत

॥४॥

अभया अपि प्राणभाजो ह्यनन्ता , समुपेत्य मार्ग जिनेन्द्रोत्तिशुद्धम् ।

प्रष्टुष्ट समुद्भाय पुण्य हागुस्तन , मुधामोपरिप्रयत्रिर्त्तमानम् ॥५॥

अनुप्त चेत् वीज भवति जलने नैत्र फलत् ,

शुभेऽयुर्वाग्नि प्रखलतरयत्न कृपिबले ।

तर्पेपा प्राय (तदा नैपा मोक्ष ) प्रचुर्गतरपुण्य च त्थता,

मुसम्यक्त्वाभावाद्भवति शमिना तद्गुणभृताम् ॥६॥

प्रथा यान प्रामात्तरमुपगते नैत्र फलत्,

पर तद्वेतुस्तत्तन्त्रि सुकृताना ततिरिह ।

न सा म्यान्मोक्षाप्तौ नियतमसकौ कमविलयात्,

पर सौरय मुक्तौ भवति तित्त्रभात्रोपगमितम् ॥७॥

तृण्याया नत्र वाञ्छा भवति दृषिकृते सोद्भवेत्रिश्चयेन

घान्याप्ते प्राग चगत्या त्रित्तमनुपम सद्दशा पुण्यमेवम् ।

मोक्षाय मञ्चरित्रे प्रतिकल्मुदिता सत्प्रवृत्तिमिताना,

मत्तैत्र मावत्रिद्धय मततममिरता पुण्यभात्रोऽयत्रयम् ॥८॥

आम्तिकवर्गः सर्वः पुण्यं मनुते काङ्क्षासिद्धये चारु,  
 अष्टविधा न मता पुनरेषां कर्मण आवलिका ह्यनुमेया ।  
 जैने धर्मे ज्ञानादीनामावृतिगमनान् साऽष्टविधा वै,  
 पुण्यं तत्राघातिनिवद्ध पापमघातिनिवद्धं कर्म ॥९॥

वेद्ये नाम्न्यायुषि गोत्रे म्युः शुभसंयुक्ता अशुभास्तास्तु,  
 शुभ्रा नामाद्याः पुण्यात् स्युः पापात्त्वशुभा एताः सर्वाः ।  
 योगात् कर्माश्रवति प्राणी पुण्यं तस्मान् सुन्दररूपान्,  
 न विरुद्धं निर्जरया यस्माच्छ्रेणि त्यक्त्वाऽनुत्तरजन्मा ॥१०॥

मन्वानाः पुण्यतत्त्वं कतिचन विबुधा मन्वते पापतत्त्वे,  
 हान्याः पुण्यं प्रकृष्टं परिगतमुदयेऽस्मिंस्तथाऽल्पं तद्वत्तु ।  
 नैतद्युक्तं यतो वै परिजनविभवाद्य सुखस्यैक हेतु-  
 नैतच्चाभावजन्यं न च दुरितहतेः पुण्यमेतद्धि कुर्यात् ॥११॥

पुण्यं त्रिधा मतिमता गदितं त्रिधा तु,  
 पुण्यानुबन्धजनकं निरवद्यवृत्तेः ।  
 पापानुबन्धमपरं जनयत्कुहृष्टेः,  
 श्रीवीतरागपदगादनुबन्धगून्यम् ॥१२॥

अज्ञो नरः फलमुपेत्य भवेत् प्रसन्नः,  
 पुण्यस्य, वेत्ति न तु पुण्यविकाशहानिम् ।  
 भुक्त्वा फलं दुरितसन्ततिजातमज्ञ,  
 उद्विग्नतामुपनयत्यघहान्युपेक्षः ॥१३॥

शिशोर्न जातिर्जनकाद्यभीष्ट्या,  
 शिशोरभीप्साऽपि न तत्र हेतुः ।

तन्वाग्निहीनस्य न चेश्वरस्य,  
किन्त्येकमेवाऽत्र सह हि कर्म

॥१४॥

आह्वयस्य रोगं रहितस्य कश्चिन् , कुले जनिं प्राप्नुत इष्टदात्रीम् ।  
परोऽपरस्मिन्नहि तत्र मुक्त्वा, कर्मव, हंतु प्रजगोऽसि कश्चिन् ॥१५॥

अक्षाणा पटुताऽऽयुष सत्रलता शत्रौ जले जङ्गले,  
रक्षा सङ्गरसाथजातत्रिपत्ति चौराग्निनाते भये ।  
दुष्टेभ्यो नपतिभ्य इतिसमितौ न्यालाहिनागोद्भवे-  
ऽश्रमेऽनायत इष्टितो नरभवे तत्पुण्यप्रिम्फर्जितम् ॥१६॥

तनोति भक्तिं जनता मुग्धाद्या, कुत्रन्ति विद्यानिपुण हि पाठका ।  
लभन्त आश्रयमुत्तरगतु , सुग्राकर मत्कुलमेत्र पुण्यान् ॥१७॥

अशुभग्रन्धानि ममस्तपुण्या-न्याहारयुग्म जिनता त्रिहाय ।  
आग्ने नितान शुचिमयमो यत् , सम्यक्त्वहेतु जिनतार्जने हि ॥१८॥

पुण्य प्रधान भरतानुजे य-द्वल नृपेन्द्रानधिक द्वाराऽऽह्वये ।  
रूप हि नाकोरुम ईहनाह, मनत्कुमार त ऋतेऽतिपुण्यात् ॥१९॥

पुण्यान् प्रधिव्याप्त्य आनुकूल्य, नियत्यमिष्टऽतुलहेतुता ऋधु ।  
यश्चाप्त्यो न प्रभयन्ति तस्मिन्, मोक्षस्य माग च सहायिताऽस्य ॥२०॥

मर्त्यार्थवेत्तार न्यारभावा , सर्वे समाना परमग्न्यपुण्यम् ।  
निनेश्वराणा निरिपलोत्तिमारा, राणी जने सशयभेत्तक्षा ॥२१॥

अतीर्थपा यद्यपि साधुवृत्त, प्रजातयत्येव पर प्रवाह ।  
त्राप्येह तीर्थे जिनरात्रभूता, प्रभात्र ण्योऽमलपुण्यमहते ॥२२॥

मन्त्रीमुन्तिताकरणोपेशा , मत्त्वाऽधिक-दु रि-कुपात्रे  
ग्न्यं गुम्ल जिनगुम्मेरा, पुण्याद्दान्युपकृतियुग रक्षा ॥२३॥

सस्यक्त्यं चरणं विनयाद्यं, वैयावृत्त्यं मह पाठाद्यैः ।

यान्यर्हत्पदकारणभूता-न्यर्हत्पृजादीन्यमितानि ॥२५॥

यद्यपि पुण्यापुण्यक्षयतः, साध्या मुक्तिः शासनशस्ता ।

तदपि च जिनपाऽऽदेशाः पुण्ये, कारणभूता न पुनर्दुरिते ॥२५॥

श्रेणिक्षय्याः प्रकृतयः पापाः, सर्वत्रास्ति क्षय आप्तोक्तौ ।

... .. प्रतिपदमेतौवृन्दस्यार्थः ॥२६॥

कपायतो भवति कर्मणां रसे, बन्धने विमात्रया सदाङ्गिनाम् ।

तदुक्तिरेनसो रसेन पुण्यगे, सन्दताऽनुगो रसोऽत्र गीयते ॥२७॥

निर्जराकृते कृतान्यशेषधर्ममाधना-

न्यबन्धकानि सन्ति नो परं तदर्थिताऽत्र न

शुभोऽपि पुद्गलाश्रयो निमित्त्यपीष्यते नहि ॥२८॥

जिनेन्द्रवाङ्मयेष्वघानि निन्दितानि विस्तरात् .

कृपापि पापमाश्रितेषु दुःखितेषु सम्मता ।

पुद्गलैः सुखं भवत् प्रशस्यते क्रियादरे,

फलं वृषस्य मुक्तिवत् सुराल्लयोऽपि शस्यते ॥२९॥

मुक्त्यर्थमुद्यतमतिर्यदि सावशेषाऽ-

दृष्टो भवेत् सुरनराधिपत्रः पद्मिपात्रम् ।

अत्रैत्य मुक्तिमपि साधयति प्रधानां,

भत्वेति पुण्यपथभृत् भवेत् स जैनः ॥३०॥

इति द्वादशोऽध्यायः ।

। त्रयोदशोऽध्याय । ( पापाधिकार )

जैनो भवेत् सकलमालमपायभीरु-

नैत्रापयान्ति भयतोऽनुगता अपाया ।

नैमिचित्ता न भवति प्रलयो निमित्त-

नाश विना भवति सोऽपि च पापभीरु ॥१॥

यत्प्रप्यनिष्टफलं सकल हि पाप,

तत्र तथापि यदिदं प्रचुराङ्घ्रिसस्थम् ।

बाधाकरं जगति मोक्षविधौ च निन्द्य,

नाज्ञातमुद्भति न च प्रयतेऽत्र लाभ ॥२॥

पापोपभोगमरिषेऽयत्तहारराशौ,

पर्याप्तिहीन उदितेऽघफले भवेद्धि ।

गव परापरदशासु तदोपमुद्धृते,

पापानि तत्फलयुतानि भवेऽखिलेऽत्र ॥३॥

भयदक्षामनिर्जैरात्रलावयस्य मञ्चयो,

भवेत् नैत्र पुण्यमत्र पाप्मना विरोधिताम् ।

विशुद्धसाधना नरा न सत्रशुद्धसाधना,

घन्घनेऽपि नानयोर्विरोध इष्यते बुधै ॥४॥

यतोऽनुसार्यं पुरातनाहमा सत्तेदयं,

सम तु पुण्यपापयो न कैवलस्तु कस्यचित् ।

उन्धके कपायितेऽयमिष्यते मपापक,

चरमयोगिन समेत्युत्थ्य णमा पुन ॥५॥



पापं स्वतन्त्रमणतीह च वावदूकः,  
 कश्चिद्वदत्यपि च पुण्यपदार्थसंस्थे ।  
 अल्पेतरत्वं उदितेऽघचयः क्रमोत्थ-  
 श्रिन्या तु तत्र विपरीतपदार्थभूतिः

॥६॥

पुण्यस्यास्ति निबन्धनं शुभतरा योगाः शरीरादयो,  
 मन्दत्वं च कपायसन्ततिगतं पापे परे हेतवः ।  
 बन्धोऽस्याशुभपुद्गलाऽन्दनभवो योगादनिष्टात् पुन-  
 मिथ्यात्वाऽन्नतकोपनादिसहिताद्यावत्कपायोदयः

॥७॥

स्थानानि पापस्य मतानि विज्ञै-रष्टादश प्राणवधादिकानि ।  
 आद्यानि पञ्चाऽत्र तु हेतुकार्य-स्वरूपभाञ्जीति पुरा त्यजन्तु ॥८॥

स्वाभाविका नहि मताः सुगुणाः कुतीर्थै-

र्ज्ञानं दृशिश्च चरणं भवभृत्सु मोहान् ।

तन्नाष्टरीरनुसृता गुणसङ्घहर्ष्यै(त्री)-

स्तत्त्वभूतविभूतिर्न मताऽऽत्मनोऽन्यैः ॥९॥

विचित्रतैषां परमेश्वरे वित्, स्वभावभूता करणाद्यभावान् ।

सैवाऽऽत्मनीष्टेन्द्रियसार्थसिद्धा, न तत्त्वतश्चेतन इष्ट आत्मा ॥१०॥

नातीन्द्रियार्थमतिभिर्विततानि तेषां,

यद्दर्शनानि, तदिमेऽपलपन्ति वस्तु ।

घातीनि किं निजमतौ दधते ह्यघाति ॥११॥

सप्तभिराढ्या चत्वारिंशन्, न मताऽघांशानां तैस्तीर्थैः ।

न च तन्नाशपरोद्यमकथनं, ज्ञमन्यानां नहि तच्चित्रम् ॥१२॥

तदैव न हि विदित नैतत्, यत्रातीन्द्रियवेद्यात्मा मः ।  
 जिनपा सकलज्ञास्तद्विप्रिदु-निन्युर्माग तद्घातोत्कम् ॥१३॥  
 पापापहतौ शक्त मार्गं, विदित-जगतीजनहितकारम्-  
 सम्यग्दशनबोधचरित्रै-र्युक्त स्वात्महितैपी धयते - ॥१४॥

पापाना यत्रिपान बध्निरितियुत न्यर्थवांगादिहान,  
 विज्ञायाचायपार्थे तदकरणत्रिधा मन्यजेत् सर्वथा तत् ।  
 हतूना सवथा यत् परिहृतिरमला शङ्कनादौ गताना,  
 त्यक्त्वा पापांघमेव म्वगतमुदयते रूपमात्मा स्वभावात् ॥१५॥

पुण्य च पाप च न तत्त्वशास्त्रे, तत्त्वे पदे नैव विचारिते यत् ॥१॥  
 बद्ध पराप्रत्तयतेऽपि पुण्य, क्षमादियुक्त सुदृते च तेद्वत् ॥१६॥

तथा स्वरूपेण विपर्ययेणा-नुभूयते कर्म सम द्विधाऽपि ।  
 प्रवेद्य पाप तपसो विनाश्य, द्विधा भवेन्निर्मल एव आत्मा ॥१७॥

परस्पर महत्कमभावभाजो, मूलात्मिन्ना खलु कमभेदा ।  
 अन्यच्च जीवान्य आत्मभेदा, परस्पर युग्ममिदं न चेत्तम् ॥१८॥

मिदा या मता आश्रव बन्धने च, ता एव भक्ता द्वयेऽस्मिंस्ततो न ।  
 प्रतीत्य भोग प्रतिघातशून्य, सम्यस्त्वमुरया सुदृतेऽपि गम्या ॥१९॥

आत्मस्वरूपे प्रतिबन्धकत्व-मपेक्ष्य पापेऽधिकृता मुनीश ।  
 सापेक्षभावे हि विरुद्धता-न, विरोधोपप्रतिपादिनी स्यात् ॥२०॥

शुभा पुद्गला पुण्यरूपेण जीवै-र्य आत्तास्त्रे पुण्यमन्वत्तु पापम् ।  
 चयो योगत कमणा च स्वभाजो, यथा काययोगाद् घटि पुद्गलानाम् ।  
 मत नो घृत नो न चोक्त तथापि, पुगणस्य पापेऽतिरतोऽयमन्देन ॥२१॥

वन्धोऽघानां विरमति यदा रुध्यते तद् गुरुभ्यो-  
 ज्ञात्वा रूपं विरतिनियमं धारयित्वा त्यजेज्जः ।  
 नामाक्षिप्तं भवति जनता गोविधानेषु तेन,  
 सत्यङ्कारैर्घिहितशपथैस्तोषमानेय आप्तः ॥२२॥

सूक्ष्मत्वं स्थावरत्वं विकलितकरणं कायपार्थक्यहानि-  
 दौर्भाग्यं दुःस्वरत्वं स्थितिरहिततनुर्वाक्यमादेयशून्यम् ।  
 अङ्गोपाङ्गादिघातं गतयश उदिति सर्वमित्यादि पापान्,  
 मत्वा सुज्ञो विरज्याज् जिनमतनिपुणो जैन एनःप्रयोत्नात् ॥२३॥

यथाऽऽकरोद्भूतगुणप्रशस्यान्, महार्घता मौक्तिकमालिकायाः ।

तथैव, पूज्यो नर उच्चगोत्रा-द्विश्वेऽनुपूज्योऽस्ति परप्रभावः ॥२४॥

दृश्यन्ते जगतीह सौख्यधनिकाः शून्या वरैः साधनै-  
 स्तद्युक्ता अपि दुःखभारकलितास्तत्स्फूर्जितं वेद्ययोः ।  
 सद्द्रव्ये वरयाचके न वितरेत् प्रेस्यं लभेतापि नो,  
 वीर्यं भोगयुते भवेद्विमथनं तद् दुष्कृताज्जन्मिनाम् ॥२५॥

लोके लोकोत्तरे चाध्वनि परिहरणस्यार्हमेतन्न शङ्का,  
 लोकास्तत्त्वार्थमुक्ताः परिभवपदवीं पापिनः प्रापणीयाः ।

आत्थेति क्रीडयेदं प्रभुरभिनयते पुण्यपापक्रियासु,  
 विश्वं तल्लोकसङ्घः कपिवदभिधरत्येष चेष्टाऽसमर्थः ॥२६॥

चिन्तयन्ति नैव ते दयोक्तयोऽतथाभवा,

च्यथोद्धुरे भवेत्पदं कृपालवस्य सा परम् ।

पुराणपापपाकजाऽपरं च निर्दयः प्रभुः,

करोति जातमङ्गिनं महाव्यथाऽर्भकादिषु ॥२७॥

पुरातनस्य कर्मण फल प्रवदयज्जनो,  
 नरीनमन्दतीह पापमेव दीर्घकालिकम् ।  
 ततो प्रिधावृत्तेशितुर्न शोभते मता गणे,  
 न चेश्वरे पद मनेद्भवस्थगालकोचित,  
 तदेतदुत्तमर्हता विमुच्य फन्नुवादिमि ॥२८॥

जैना भ्रुवन्ति जगतीसकलासुमत्सु,  
 मंत्र्या यत्र भुवने दुरित न कोऽपि ।  
 मो ! सन्दधातु, यदि चाऽऽत पाक् तथापि,  
 धर्मान् प्रणाश्य फलवेत्नभाक् तु माऽस्तु ॥२९॥

भारानुकम्पनयुता मनसा स्पृहन्ते,  
 यन्मुच्यता जगदिद सकलाघमारात् ।  
 नास्तीह यद्यपि समस्तजनस्य मुक्ति ,  
 सम्बन्धिजीवनपरोत्तिरिवेह योग्यम् ॥३०॥

यन्मुच्यते मनुजभाषगतो हि जीव-  
 स्तास्मिन् सतीह जगतीतरसत्त्वसत्त्वम् ।  
 आवश्यक, न च भवन्ति समे मनुष्या-  
 स्तन्नास्ति सम्भवि पर करुणोत्तिरेषा ॥३१॥

जन स्यात् सो विप्रिधविधितोऽघाघमीत पुरापि,  
 लघे धर्मे प्रचुरकरुणासङ्गतेल धर्मग्री ।  
 मान्योऽस्य म्याद्विविधविधिना हिंसनाघादिवर्जा,  
 देव साधु प्रवचनरतो धर्मधुर्योऽययार्था ॥३२॥

इति त्रयोऽशोऽध्याय ।

। चतुर्दशोऽध्यायः । (आश्रवाधिकारः)

वेद्यते सकलजन्तुभिर्भवे, कलां कलां प्रति मुखं व्यथान्वितम् ।  
कर्मणामुदयतो, न चाग्यसौ, बन्धमन्तराऽऽश्रवानृतं न सः ॥१॥

जैनो मनुते तत्त्वावल्यां, तद्योगानाश्रवहेतून्ग्यान् ।  
आश्रवभेदो द्वौ शुभमङ्गु कायोक्तिद्वयोर्द्वैध्यात् ॥२॥

दुःखे च सौख्येऽसुमतां समस्ति, यथानुभावः सततं निजऽङ्गे ।  
तथैव बोधावरणादिजाते, स्वभावरोधाद्विदुपाऽभिमान्यः ॥३॥

सुखद्वन्द्वमाविश्र्वकास्त्यात्मनोऽन्त-स्तथैवात्मबोधादिनाशात् पराणि  
विपाकप्रविष्टानि विजस्ततोऽष्ट-कर्माणि मन्वान उदारदर्शी ॥४॥

एको वधो हेतुफलानुयोगी, चेत् त्यज्यते, त्यक्तमघं हि सर्वम् ।  
स्वरूपहिंसा प्रथमं हि पापं, मिन्नानि मिथ्योक्तिमुखानि तस्मात् ॥५॥

मुनिर्भवेत्सर्वत एनसो वृजौ, क्षमो, ह्यशेषा न पुनस्तथा क्षमाः ।  
अभ्यासधामान्य आप्तवर्या, अणुव्रतानीह परेषु रान्ति ॥६॥

तथाऽत्र शेषाधविलोडनाय, मतानि पञ्चाश्रवद्वारि विज्ञैः ।  
योगाः कपायाः करणाव्रतानि, तथैव शास्त्रेण प्रणोदितानि ॥७॥

जीवा बध्नन्ति कर्मोदयमनु सदृशं तद्भवेदाश्रवेषु,  
भागोऽपीष्टोऽत्र कर्मस्थितिमितिसदृशो योगमानाः प्रदेशाः ।  
प्राच्यैः क्रोधादिभिस्तु भवति रसचयस्तत्र भेदोऽस्य बन्धात्,  
बद्धं कर्मानुभाव्यं न च परजनितं ह्याश्रवास्तत्र योग्याः ॥८॥

कर्मवेदनं भवेद्यथाकृतं पुराङ्गिभि-  
स्तदाश्रवा न तत्त्वगा भवेयुराप्तसङ्गिनाम् ।

हृत्तुःशायभेद एव चेत्तदा न मशयो,  
न जैनमार्गागा नरा श्रयन्ति जातुचिद् युधा ॥९॥

न चास्ति जन्तुजात एष एव एव सम्भयो,  
यतोऽङ्घ्रिना क्षण क्षण नरा नराऽस्मि भावना ।  
भवन्ति वीर्यशालिनोऽङ्घ्रिनोऽहंमागगा पर,  
पुगतन घन विनाग्य युयतेऽल्पमेव तत ॥१०॥

प्रश्रयतऽयुधोऽपि विद्वत्सङ्गतो बुधीभवन,  
प्रचायते जहोऽपि बुद्धिमाननिष्टमङ्गमात ।  
यत् तु फलप्रदानानुसारि कर्म नूतन,  
तदाऽग्निलोऽपि धमनाह ईश्वर्णीयो मुधोदित ॥११॥

त्रिमै सदाऽन्तरमुगैरुदयागताना,  
प्रापर्मणा प्रतिपद्यते निरोध ।  
आचयतेऽप्यतय विविधो हि धम,  
मयं तदथ प्रथगात्मकता द्वयोश्चो ॥१२॥

ज्ञानान्घातकरणप्रथणा हि योगा,  
मानादिघातपरसप्रभृतीर् दधाना  
पूर कृत दुरितमाप्नचय दुरन्त,  
युयन्ति ता प्रथगिद मतमाश्रवाख्यम्

[ हेतुममुमाभयते प्रथस्त्वम् ] ॥१३॥

मुस्तय तिनोपत्ता आश्रयेभ्य ऋतौ,  
मद्यरोऽथ तद्भय क्षयोऽथ धमणा तत ।  
मदधमाप्यो यदा तु यथाऽन्यताऽग्निला,  
पुगणरमनित्ररा तदाऽयत् पर मरा ॥१४॥

ततोऽवधानमाप्यतां सदाऽऽश्रवावरोधने,  
न तद्भवेद्विनाऽऽश्रवावधानमन्तरा पुन-  
र्भवेत्तु तच्च शास्त्रकृद्गदाऽऽश्रवान् विबोधयेत् ॥१५॥

अकामनिर्जरागुणाहभन्त आर्यमार्गगा,  
उदित्वरां दशां न सोऽन्तराश्रवप्ररोधिताम् ।  
क्रमाच्छमित्वमाप्यते ततः परम्परा शुभा,  
ततोऽवमान्यते बुधैर्न भिन्नताऽऽश्रवाश्रिता ॥१६॥

भवेन्नरोऽत्र धर्मभाग् यदीष्टमार्गमागतो,  
निरोधने सदोद्यतो वधादिसङ्गताश्रवात् ।  
जिनोऽप्यशेषबोधवान् सुदीर्घकालरोगयुग्,  
न चान्ध आत्तवान् विकर्मिकं द्योद्यतः खलु ॥१७॥

आश्रवे पुराणकर्म जन्तुना निकाच्यते,  
ह्रस्वकालमिर्यते प्रदीर्घकालभाविताम् ।  
महारसं नयेत्परं बहुप्रदेशमल्पकं,  
यतो निरोधनेऽस्य तु प्रधारयेद्विपर्ययम् ॥१८॥

जीवोऽनीशोऽयमात्मप्रतिनियतविधौ सौख्यदुःखैकहेतौ,  
प्रेर्योऽसावीश्वरेणाशुभशुभकृतये हीत्थमाहुः कुतीर्थ्याः ।  
तेषां वार्त्ताऽऽश्रवाणां न भवति सुखदा कर्णयोः श्राव्यमाणा,  
स्यादेषा कर्णरन्ध्रेऽमृतरसतुलिता येन दासत्वलीनाः ॥१९॥

यथाऽऽतुरो वैद्यनिवारितोऽपि, जानन्नपथ्यं परिहर्तुमिच्छुः ।  
रसेप्सुरत्त्यन्ध उदस्तवीर्य-स्तथैव जीवः सुखकाम्यघेषु ॥२०॥

श्रुत्वा ऋणरसायन उच इत् य श्रद्धवीताश्रवान्,  
 रुन्ध्याद् दुष्कृतवारिवे समगुणान् मत्वा जिनेन्द्र उच ।  
 म म्यादात्मनि शुण्ठ उप्तमतिको धर्मान्तोऽनेकश,  
 म्यान्चासौ वर जैन ण्य नितरा गन्त्रेणानाधताम् ॥७१॥

एतज्जैनस्य शुद्ध िनपतिगदित सर्वशास्त्रेभ्यः,  
 हेया समारवासे प्रतिपत्तमटनादिष्ववस्थास्वपीड ।  
 पापानामात्रा ये ह्यत्रतनुचोभिर्नधानेषु ये श्यु,  
 मोधानेषु प्रयुक्तैर्न भवति परथा भावजेन्यमुच्चै ॥७२॥

इति चतुर्दशोऽध्याय ।

१ पञ्चदशोऽध्याय । (सप्तमधिकार )

भन्याज्जैन शुचितरमुदित भयर तत्रभूर्त,  
 पाप यम्माद्विगतिकरणात्तरेणेति नित्यम् ।  
 मिथ्यात्वाद्वा भननप्रिय नैव ता सद्धीरन्,  
 यस्मात्तेषा न भवति दुरित पापकार्ये प्रवृत्ता ॥१॥

जगति जैनवृत्तान्तपरे घृषा, करणमाध्रजमाहुरेध परम् ।  
 अविरतां यन्ति पापमपाम्यते, कथमनान्भवे त्रिकलेन्द्रिया ॥२॥

सुप्तो यथाऽभिमरको विगतत्रियोऽपि,  
 त्रि प्रयोक्ष्य त्रितनोति परस्य घातम् ।  
 जीवाभ्यश्च रहिता त्रिययाविरत्या,  
 पापप्रचारमुदितेऽपमरेऽपशङ्का ॥३॥



निरोधः सर्वेषां मुनिभिरुदितः शास्त्रविधिना,  
परित्राणायाऽघान् सततमुदितादाश्रवकृताम् ।  
परं योगाः पापा वधमुखगता रोध्यपद्वी,  
गता रोध्या विजैर्निखिलदुरिताव्यरुधिकृतं ॥१॥

मृगद्वयत्रता[न्यत्रता]न्युग्रपापानि साधु-  
रुद्धा निरुद्धा भवेयुस्तु योगाः ।  
कपाया हृषीकाणि रोध्यानि पङ्क्तौ,  
भजेन् मा तु मध्ये मुहूर्त्तस्य साधाः ( जन्तो ) ॥२॥

विवेको हि तेषां यतो यत्न ण्यु-  
विपक्वेषु कार्या कृतेर्निष्फलत्वम् ।  
प्रवृत्तिश्च तेषां यथा नोदयः स्या-  
दिति प्राप्तधर्मा निरुन्ध्याद् वधादीन् ॥६॥

ईर्याभाषणोऽऽत्तिक्षिपति-परिहरेषूच्यतौ योगकार्यै-  
गुप्तो वाक्कायचित्तैः क्षमणप्रभृतिभिर्धर्मभेदैर्धृतात्मा ।  
क्षुत्तृङ्मुख्या विवाधाः सहत उदयगा भावयन् भावनाधं,  
चारित्र्ये चारुरूपे चरति दुरितह्रासं वृत्तोऽवज्यमेषः ॥७॥

एवं योगेषु शुद्धेष्वनुगतसुविधिः साधनं चारु वत्ते-  
श्रेण्याः कर्मक्षपण्या यदि फस्मनणुः कर्मभारश्चिरत्नः ।  
सर्वार्थान्तेषु देवो भवति स सुयतिर्भाविभद्रो विशेषात्,  
सर्वाङ्गापूर्णवंशे जनिमुपसरिता सिद्धिमेता ध्रुवं सः ॥८॥

यद्येषोऽनल्पकर्मा परिपतति वृषात् संवराद् दर्शनाच्च,  
नैवासौ संमृतौ स्याद् भ्रमणमनुगतोऽपार्धवर्त्ताधिकं तु ।

उत्प्रेताऽयमेनोनिचयमनुगतो जानु साधारणत्वं,  
निर्गत्याऽस्मात् प्रयात्याग्निलगुणगुचितामेति गीत्र शिव स ॥९॥

नालम्भूष्णु सकलविरतये भोगसत्तिप्रमङ्गाद्,  
रक्तस्तस्या विरमति स पर दशतो हिंसनाद ।  
शुद्धये तस्या गुणद्रवणुदभी-दिग्रतात्त्रिर्धा स,  
प्राप्त्यै सम्यग मुनिगुणनिचिते साम्यमुरय चतुष्कम् ॥१०॥  
चत्वार्येव द्विकदशानियमा श्राद्धधुष्येषु योग्या,  
स्यैव स्थाण्युयमवरणानीप्सितोऽणुव्रतिने ।  
तेनान्यथा मुखरकृतये-पापये-नेष्यते-तद्,  
मिथ्यान्ष्टो-धरति मुनिव्रति सायुता नैव-चद्वत् ॥११॥

य ह्येत सस्यस्त्वमात्रो विगममनुमृत शुद्धव्या-रिक्त,  
सम्यक्त्वे मोहनाशान्न च धरति यम शक्तितो द्वादशानाम् ।  
दह गेह-फलत्र द्रविणममुन्य-प्रश्रते-स्मारहीन,  
प्राणान्तेऽसौ न जह्यात् मुखरतिप्रहितेषूपसर्गेषु साम्यम् ॥१२॥

अणुव्रतानि धारयन् सस्यैव मुनेते रेतो,  
यत् यत् क्षणो भवेत् तदा तदा स नित्यम् ।  
चतुर्विधऽपि पापध च निश्चयात्त पत्रसु,  
नितान्तमाश्रितो भवेच्छ्रुतादिकार्यसिद्धये ॥१३॥

स इत्यराणि धारयेत्पुत्रतानि च पुत्र,  
परम्परा समाप्रयेन धृत तु यात्रदम्निताम् ।  
गुणेषु शिक्षया युतेषु काल-इष्यते लघु-  
वीरण समाश्रये तु यात्रस्तिता भवे ॥१४॥

दुःखित्वान्नरकाश्रिताः परकृतं तन्त्रं वहन्तः पुन-  
स्तिर्यञ्चोऽमरतां गता अपि पुनः सामर्थ्ययुक्ताः समै ।  
स्वीकुर्वन्ति न सर्वसंवरविधिं वाचः क्षणे साधनान्,  
तत्रैकां नरतां विना कचिदपि म्यात् संवरः सत्तमः ॥१५॥

धर्माचारधरः सदाऽनुमनुते पाथेयमामुष्मिकं,  
देवाचार्यसुकृत्यपूजनविधौ शुद्धा भवेद् या कृतिः ।  
तीर्थानां परिपेवणा, वृषवतां भक्त्या समाराधना  
याऽन्ते स्याच्च समाधिना मृतिरिति प्रध्वंसि शेषं पुनः ॥१६॥

जीवेषु क्लेशवत्सु ब्रजति करुणया रक्षणे नत्प्रयत्नं,  
यस्माद् दुःखान्वितेषु प्रयतत उदिते ह्यार्द्रभावोऽवनाय ।  
यत् तच्चिह्नं प्रसत्तेरधिकृतसुविवेर्भावसम्यक्त्वजाते-  
रह्यं तल्लक्षणं चेतारमिपचयतो जैन वंशे विशेषान् ॥१७॥

सुसंवरास्ते यदि भावनाभि-र्यदात्मना स्वाभिरनुश्रिताः स्युः ।  
महाव्रतेपूद्यतधारणायां, यथा तथाऽणुव्रतधारणायाम् ॥१८॥

सदा प्रतिज्ञा सुकरा सतां स्या-न्न पालना सद्बृपमाश्रितेष्वपि ।  
योगास्ततो धर्मपरैरमूभिः, सद्भावनाभिः सततं प्रवर्त्याः ॥१९॥

योऽणुव्रतानां यमिनां समक्ष-मागूं विधत्ते भयतोऽघसन्ततेः ।  
दिने दिनेऽसौ मुनिताधिगत्यै, प्रतिव्रतं संस्क्रुते ह्यमूभिः ॥२०॥

महाव्रते स्युः सततं समुद्यता, ये तेऽयमूभिर्न निजं वसीरन् ।  
आसूर्यकाद्याभिरुपासयेयु-द्विधा विहारार्हसुभावनाभिः ॥२१॥

सुसंवृता विभ्यति नैव मृत्यो-र्यतो यतानां सुगतिः पदाम्बुजे ।  
विमोहतः शोकमुपैति सक्तः, क्षणः परः सोऽनघजीवितानाम् ॥२२॥

न जीवन स्यु प्रतिद्वभावा, यथायुरेवाणनमङ्गिना वत ।  
 क्षणो हि धमस्य पर दुरापो, मत्वेति रत्नत्रितयावधाना ॥२३॥  
 भाय समै मद्धन्ये रिपौ च, खैणे तृणे चाऽऽमसुप्रणयो पुन ।  
 भवे च मोक्षे च विभाय मार्गं, मत्रगवैराग्यपर निजेप्सितम् ॥२४॥  
 परे समस्ता प्रसता हि धर्मा, उदन्ति दौर्गत्यगमोन्तानि ।  
 दु सानि वैराग्यकराणि जैन-श्रतुगतीना तु भयानि वेत्ति ॥२५॥  
 निभेति सर्वाऽपि भवाश्रितोऽङ्गी, मृतेन सोऽपैति भयाद् त्रिमीत ।  
 सम्यक्त्वास्तूज्जननाद् यतस्त-त्रिवायमेतच्च विना न मृत्यु ॥२६॥  
 ध्येय मन्तत्परिसवृत्ताना, कला ह्यसङ्गो दध (उस) नल्पयास ।  
 मलात्तन्नेहो भ्रमरोपमाना, चया कला सद्गुरसश्रित श्रये ॥२७॥

सता प्रिये गुणे कुले निवास आर्हते मते,  
 गणाधिपास्तथात्रिधा अपि श्रुत पद जगु ।  
 अभिन्न एव तद्बहिर्गतैस्तु मोहतस्कर-  
 स्तनाश्रयाश्च तद्विधास्ततो गुरो बुल श्रयेत् ॥२८॥

यत्रपि दहो गुणकुल्युक्तो, भोक्षपदावह उक्तमुनीनाम् ।  
 तत्रपि निरानाध पदमेतु, न्युत्सृजतीह सम मुनिरन्ते ॥२९॥  
 आजीविताद्धर्मपरो हि जैनो, रत्नत्रयाराधनया कृतार्थ ।  
 तत्त्रयर्था मानसकोशशे, सता दधत् प्राप्स्यति शाश्वत पन्म् ।

( मग्न सदानन्परै समर्च ) ॥३०॥

इति पञ्चदशोऽध्याय ।

। षोडशोऽध्यायः । ( वन्द्याधिकारः )

जैन. सदा मीतिधरोऽद्यवन्धान, मुमुक्षतां निर्मलचेतसा धरन् ।  
प्रतीयमानोऽङ्गमुद्गरभावाद्. मुक्तरवन्धं भविता तु वन्धम् ॥१॥

आश्रुतं यदाश्रवैरदृष्टमात्मनाऽऽत्मसु,  
विकीर्णमेव चेत्तकत्र यात्यदो भवान्तरम् ।  
क्षीरनीरवत्पुनर्भवेन तक्तु सङ्गतं,  
फलेत्तदा भवान्तरेषु विपाकसाधनानुगम् ॥२॥

परिश्रवा भवन्ति ते स्वरूपतोऽपि संश्रवा—  
श्रटन्नपैति यान् सितान् शुभात्मभावुकाशान् ।  
पतन्नपीह तान् प्रयात्यसौ भवी न संशयः ॥३॥  
धर्मसाधनोद्यता नराः सदा भयानकान्,

पराहरन्त आश्रवांस्तथापि सम्प्रयान्ति तान् ।  
देवसाधुधर्मभक्तिकारणात्तदा शुभान्,  
विधाय प्राक्तनं दुरितमुद्धरन्ति तत्क्षणे ॥४॥

प्रकृतेर्वन्धं योगाः कुर्युस्तनौ यथा धातवः,  
पूर्वैः सदृशास्तेषा देशास्ततो नहि सार्थकम् ।  
वन्धनतत्त्वं यत्तद्वन्धो भवेदमुतोऽखिलः,

स्थित्यास्तेषामनुभावाच्च क्रियानुवन्धतः ॥५॥

योगकरणावधि श्रयन्त्यसी, आश्रवाः सयोगितान्तमाश्रिताः ।  
सम्परायिकी समाश्रिता नराः कपायितानुगास्तावदेष तु ॥६॥

यदपि च योगा आत्मायत्ताः परं गृहिताणुषु,  
अपरसमुत्थाः सर्वेऽग्नेते भवन्ति कपायकाः ।

परतोऽतस्ते विकृतिं कुर्यु परेष्वणुपूदिता,  
आश्रयवन्धनयुग्मे स्पष्टो भेने जिनगटमते ॥७॥

धायुष प्रतिभय विभिन्नता, वध्यते भवेऽपि मवृद्ध्य हि ।  
परापरायुषा यतोऽप्यो भवे, य भय व्रजति जीव आत्मना ॥८॥

नय नैव परार्थवस्तुममित सत्त्वं कदाचिद् भव-  
त्राशो नैव च मत्तधारणपटोरथस्य विश्वप्रये ।  
यत्रो वस्तु जगत्त्रयेऽपि भवति प्रक्षीणमत्त्वं नत्र  
तज्जीवोऽयमनादिकालललितो नान्वयन सोऽपि च ॥९॥

प्रहीणकर्मा न करोति क्व, नव्य न चाकमण आप्तिरस्य ।  
सर्वव्रतान्ग रहिता अमी, तद्-भवावनाऽननु क्वमसयुता ॥१०॥

जीवो ज्ञानमयो ऽसि न्धदधो दुःख च सौर्य मत्त,  
पर्यायेण भजन् भवात्तरति प्राणप्रेधानो भवे ।  
त नादीन स्वगतौ गतान् परति चायाति प्रकृत्तऽपरे,  
गोत्रे तानमुखगुणरनुगत कि नाष्ट्रवधो भवेन ॥११॥

यत्रा रसास्तु कमणा स्थितिस्तथय यद्द्वय,  
कपायत प्रकृते भवेऽङ्गिन प्रतिक्षणम् ।  
। ऋदा गुणा यदात्मना न हाणिमाश्रयन्त्यमी,  
रसम्वनल्पप्रिना स्थितौ रमानुगामिनी ॥१२॥  
विचारयति चेद्गुधा रसे स्थितौ च कारण,  
। न घातिकमणा स्थितौ रसे च दीघकालिके ।  
। घत शमे च वारका शुभेऽन्यतीर्थिका ततो-  
। ऽयो प्रदीर्घिना स्थितिमता बुधै श्रुतोद्वरे ॥१३॥

एकशो विधाय पापमेत्यनन्तकावता,  
 महत्प्रदीर्घकालिकी स्थिति तनोति तत्तथा ।  
 दृढं विपच्यते यतोऽहसां चयो न तामृते,  
 अनादिकास्तु तन्वते मुहुर्मुहुस्तकां लघुम् ॥१४॥

घृत्तमंहं गत्यलं विपाकदानदक्षतां,  
 स्थितेः क्षये परं द्विधाऽस्ति कर्मभोग्यमात्मनः ।  
 प्रदेशतो विपाकतश्च न क्षयः प्रदेशतो,  
 यथौषधेन हन्यते विपाक आमयाचिनाम् ॥१५॥

अतः कृतस्य कर्मणः क्षयो न जातु जायते,  
 परः शतैरपीह कल्पकालसङ्गतैरपि ।  
 प्रदेशमार्गमाश्रितं चचस्त्रिदं बुधैर्मतं,  
 गतस्पृहं तपस्तु तद्विपाकतोऽपि नाशयेत् ॥१६॥

यथा रसोज्झिताणवः शृण्वन्ति शीघ्रमाश्रयात्,  
 तथा विपाकशून्यतां गताः समेऽणवोऽहसाम् ।  
 निकाचितानि कानिचिद् भवेयुरहसां पुन-  
 र्व्रजानि तानि नाशयन्ति ये स्थिता महाव्रते ॥१७॥

यदाऽघबन्धान्न विभाय जन्तु-विपाककाले भयधारणात् किम् ।  
 किमातुरोऽपध्यविधौ प्रसक्तो, वृद्धौ तु रोगस्य रवैररोगः ? ॥१८॥  
 विभेति चेदाश्रवबन्धकाले, पापात्तदा नैव तकद्विदध्यात् ।  
 स्वायत्तबन्धेन च जैनमार्गे, विबन्धके नास्ति फलोपभोगः ॥१९॥  
 यथा कपाया विविधा जनानां, स्थितौ रसे तद्विविधाः प्रकाराः ।  
 कपायहीनाः स्थितिवन्धका नहि, रगस्तु तद्धानिभवोऽस्त्यसीमः ॥२०॥

निरद्वययोगो भगवानयोगी, न बन्धकः सर्वनिमित्तशून्यः ।  
सैवैति मोक्षप्रलयात् समन्त-कर्माणुसङ्घस्य विशुद्धरूपः ॥२१॥

अनादिकालीनचिरग्रहणा-ऽप्रायलेर्नाश उदीर्यते च ।  
यथा स धीजाङ्घुरसन्तते स्या-त्राशस्तथाऽत्रापि निमित्तहाने ॥२२॥

मीमामका विश्वविधानशून्या, सुवर्णयोगप्रयन्त्यनादिम् ।  
मोक्षापलापे प्रणामस्ततस्तान, प्रत्येप नष्टान्त उदीरित ध्रुते ॥२३॥

यत्रस्ति कर्मानुभवसमन्ता-द्विणात्रलेर्नोद्भव आत्मभूते ।  
स प्रवचन्धोऽयजो न चास्ति विशुद्धप्रथम्य पुन प्रवन्व ॥२४॥

चयेक आहार उपैति भावसप्तप्रकाररसमुख्यरूपैः ।  
तथा गृहीतव्रजतीह क्मसप्तप्रकारसमयेऽज्ञताद्यम् ॥२५॥

आत्मैवोऽनन्तकणश प्रतिगमयमहो सृष्ट्मरूपावगात्मान्,  
गृहात्यज्ञानसमन्तात्परित उपधृतोऽनन्तवर्गे कणैस्तु ।  
यस्मान्ज्ञानात्थोऽम्भिन्नमितपरिमितास्ते ऋते तान्न रोभ्या,  
जीवत्याधारभूता मलनतिरहिता निश्चला अपृदशा ॥२६॥

आत्माऽस्त्यरूपो ह्यणवस्तु कमणा, तथाविधा नेति कथं तयोर्युक्तिः ? ।  
न चिन्त्यमेतत्पुत्रिरत्र युग्मे, द्वयस्य धर्मान्पि सा यथा म्यात् ॥२७॥

रगूलशरीरयन्ति जीवयोगि, प्रत्यक्षमेतर्हि कदाशयोऽन्यः ।  
अनुग्रहे शक्तिभृतश्च निग्रहे कर्माण्यतस्तानि रमान्मिन्ति ॥२८॥

अघानान्मतिप्रिधमाद् घनहत प्रागन्तितो योचनान्,  
हिंसागैघमञ्चयस्य सुचितेऽन्धो न वाग ज्यतिनः ।



वृद्धत्वैऽधिगतेऽङ्गपीडनमलं वाल्येऽनुभूताद्धतै-  
स्तद्वत्कर्मविपाकमेति विहिताऽत्राधासमाप्तौ दृढम् ॥२९॥

प्राक् संसारे भवमनुसरता दुष्कृतं बद्धमल्पं,  
पाकस्तस्यानणुरिह भवति प्राप्तकालोऽसुमत्सु ।  
वीरे देवे मदवधविमति श्रोत्रपीडाकृतेर्यद्  
कद्धं तीर्थङ्करभव उदितं नात्रकं नैव पापे ॥३०॥

जैनः सम्यग् जिनपतिगदितं बन्धतत्त्वं विजानन्,  
नित्यं चेतोऽघरहितजनतापादपीठे विद्व्यात् ।  
साशङ्कानां भवति दुरितं निर्जरान्तं विवेकात्,  
सोऽमुत्र स्यादुपरि सुरवरे निश्चयाच्छुद्धलेश्य-  
श्चुत्वा तस्मादधिगतनृभवः शाश्वताऽऽनन्दमेता (लाभः) ॥३१॥

इति षोडशोऽध्यायः ।

। सप्तदशोऽध्यायः । ( निर्जराधिकारः )

जैनः स स्याद्धृतिधनिकवरः सात्त्विकेषु प्रधानः,  
संघत्ते यो निखिलभवगतं कर्मणां प्राज्य ( पूर्ण ) राज्यम् ।  
चेतो धत्ते निखिलकुवृजिनोद्घातहेतौ सुधर्मे,  
मन्ता यद्वद् वृजिनसुविलयः पाकतस्तद्वदेव,  
चीर्णात्तीव्रात्तपस इह कृतान्निर्जरायाः पदं तत ॥३२॥

लग्नं जीवे पापमग्रे प्रभावा-दाहारादेः सर्वभेदेषु भावात् ।  
यावन्न स्यात्सर्वथैतस्य नाशो, मुक्तेराशा तावता नैव सिध्येत ॥३२॥

- यतो जातो व्याधि कुपथचरणादरनुपमो,  
 निरोधस्तत्त्यागात्र च कुपथवृद् रोगरहित ।  
 पर व्याधेर्नाशो विकृतिहरणे ये पदुतरा-  
 स्तदा जीवात्तद्वद् भवति विहति कमवितते ॥३॥
- मोक्ष न य शिवमय मनसाऽऽप्तुमिच्छेद्,  
 दुःख क्षुदादिसहित विविध सहेत ।  
 सोऽघ क्षिणोति परमाश्रितमङ्गमाग-  
 स्तीव्र करोत्यघमिय त्वपकामनाङ्का ॥४॥
- मूत्रे यतोऽग्नितपनाटिकमाचरन्तोऽ-  
 धोगामिनोऽपि कथिता प्रविराद्वभावा ।  
 गार्हस्थ्यलीनमनमोऽपि त्रिरत्तिकामा,  
 आराधका परभवे कथिता जिनेशैः ॥५॥
- मुक्त्यथता यन् भवेच्छिवधामसिद्धयै,  
 कार्यं भवेद्भ्रजिनैभृ गुपातमुख्यम् ।  
 वागश्च सन्ति सम आस्तिकताञ्चिता ये,  
 मुक्त्यर्थिन तत इमे शिरभाजन स्यु ॥६॥
- मुक्त्यर्थिनश्चरमवत्तगता प्रसिद्धा,  
 वादान्विता अपि परे चरमावृता स्यु ।  
 त्तगो जिनेन्द्रकथित मनुते हि मोक्ष,  
 भव्यन्तर्न्यनिपुणाश्च परत्र शुद्धा ॥७॥
- अकामनिजरावता व्यथाऽमिता फल लघु,  
 सकामनिर्जरे पुनमहत्फल व्यथाऽल्पिका ।

श्रुतादयो यथा शमो हि हेतवोऽनियन्त्रिता-

स्तथानुकम्पकादयो भवेच्छमो नवा ततः ॥८॥

अकामनिर्जरां पृथग् जगाद् वालतापना-

च्छ्रुतं तदत्र कारणं बुधैः सुखेन गन्धतं ।

इहत्यभोगलालसा नराः प्रथमपङ्क्तिका,

द्वितीयपङ्क्तिकाः पुनः सुरद्विभोगवाञ्छकाः ॥९॥

निर्जरा तपोत्रल तपस्तु संवराश्रिते,

कुतीर्थिनां पुनः प्रदाय नाकितां परां, च्युते ।

दुरन्तसंस्त्रितिरभव्यसांधुता यथा

॥१०॥

जिनेन्द्रधर्म आच्यते मले घने क्षयं गतं,

तथापि नैव लभ्यते शमोऽङ्गिना विनिश्चयाद् ।

भिनत्ति सप्तकं यदीह मङ्गतः कुले वरे,

दर्शने विघातिनां तदा ध्रुवं शमं श्रयेत् ॥११॥

पृथक्त्वपल्यमानगा यदा ततः स्थितिः क्षये-

दघस्य तद्विरोधिनस्तदा मुनेः पदार्चकः ।

तदा हि श्रेणियुग्मयुग्मुनित्वलाभ आच्यते,

। यदा च मङ्ख्यवार्धिमानगः क्षयो भवेत् स्थितेः ॥१२॥

बन्धः कर्मततेः सदातनभवश्चेन्निर्जराऽकामिका,

स्यादुग्रा स समेति देशकरणं मुख्यं यथावृत्तिकम् ।

अग्रे याति ततो विशालगुणभृद्बुध्यो द्वितीयां कृति,

जन्तुर्भाविशमस्त्रुतीयकरणं याति प्रशान्तान्तरः ॥१३॥

विमोहमुरयक्रमणा तत प्रभृतिवन्धन,  
 न कोटिकोटिसागरप्रमाणतोऽधिक भवत ।  
 गत गुणेऽपि लडघन न तस्य जातु जायते,  
 रमोऽधिकस्तु पातत समुद्भवेद्गुणावृते ॥१४॥

यथा यथा गुणावृते क्षयोऽङ्घ्रिवीर्यवृद्धिज-  
 स्तथा तथा गुणावृते समुद्भवो निर्गल ।  
 परे परे गुणे यथा गुणावृते समुद्भव-  
 स्तदा तदाऽघनवन्धन गुणप्रभासत क्षयेत ॥१५॥

क्षपायाणा नागो यदि च शमन स्थान (श्रेणी) प्रभव,  
 तदा बन्ध सवा विलयति भयाधिप्रजनन ।  
 पर वध्नात्येपोऽविरतयुजि यत्न उदित ,  
 पर सा त वेद्य क्षिपति दुरित प्राक् स्वतिघनम् ॥१६॥

यत्प्येषा गुभगुणजननी निचरा पाप्मना स्या-  
 न्नैराम्नाता शिवपन्परमे निचरा पुण्यभागे ।  
 बन्धाभावो यदपि सुदुतेरात्मगुद्ध युद्धवोऽसौ,  
 गुद्ध वन्न स्वकगुणनिरत नैव कौमुम्भवसनम् ॥१७॥

समस्तकर्मनिचरा सत्ता जनुप्मता भवे,  
 भवेत्तवा रिपात्रभाग् निचरायिनावृत्त ।  
 दशत पर सत्ताऽवशेषरमणा स्थिते ,  
 पुनश्च घघन न तद् द्वय शिव गमे नरि (समस्तनिजरे) ॥१८॥

उपात्तकर्मजारण तु निर्गम्यभावज,  
 नवीनरमगघने न जायते ततोऽन्तरम् ।

अतः समस्तकर्महानितो भवेद्गतार्थता,  
 विमोक्षतत्त्वसम्भवस्य नव्यवन्धविच्युतेः ॥१९॥  
 समस्तकर्मनाशनान्मतं जिनेश्वरैः शिवं,  
 परं न तत्स्वतत्त्वतो निजान् गुणान् सनातनम् ।  
 दधात्यनन्तमन्ययान्, स्वरूपतः शिवं नु त-  
 जीवरूपमेव तत्कृतिस्तु निर्जराश्रिता ॥२०॥  
 यथा हि निर्जरा शिवस्य साधनं कृतौ स्थितं,  
 तथैव बन्धनोद्धतिः परा शिवस्य साधिका ।  
 परं न बन्धनोद्धतिर्विनास्ति कर्मनिर्जरां,  
 परम्परा यतोऽनयोस्ततो द्वयं हि साधनम् ॥२१॥  
 तपोऽवनिर्जराफलं द्विधा तपस्तु तत्पुनः,  
 स्वरूपतोऽन्यतीर्थिकैः कृतं समं तु बाह्यतः ।  
 विचार्यतेऽनुबन्धिता न चात्र बाह्यताश्रिते-  
 ऽनवद्यतेतराश्रिता शरीरतापनाद् द्वयोः ॥२२॥  
 बाह्येऽस्मिन्नुदिता भिदो मुनिवरैः षट् तत्र मर्यादया,  
 तीर्थानां, क्रियतेऽनशनादिविरमो वीरस्य सच्छासने ।  
 षण्मासी प्रमिता, न चेद्भवति तां कर्तुं सहो मानवः,  
 स्यात्तपसः परिपारणेऽवमपरो भुङ्क्ते प्रकामं न वै ॥२३॥  
 बह्वाशी न सहो भवेदवमतां कर्तुं तदा सङ्क्षिपेद्,  
 वृत्ति, वर्जति तत्सहो न विकृतीस्तद्भावितश्चेन्नरः ।  
 कुर्यात् क्लेशभरं तनोर्मदहरं, चेद्भावितोऽसौ सुखैः,  
 नार्त्त रौद्रसमञ्चितं न च भवेत्तन्वेन्द्रियाणां क्षतिः ॥२४॥

कुर्यादिन्द्रियकोपनादिदमन मोक्षाध्वहेतु पर,

तत् षोढा तप उच्यते ऽहिरित शास्त्रे पत्रिप्रेऽनघम् ।

एव पूर्वविधानमार्ग उदित उत्सगत सत्तमै-

रन्त्यान्त्यादरण परे पयि पर सेव्य श्रुतोक्त्याहते ॥२५॥

यद्वाऽययार्थं प्रयतो नर स्यात्, पापस्य रोधे विगमे च सक्त ।

भवेत्तथा चेच्छुचिभावनो भवत्, स चेन्द्रियादेर्दमनान्न चान्यत ॥२६॥

मिद्धिस्तदीया तनुतापनादे-भवेद्विरामे विष्टेस्तु तत्पुन ।

मङ्ग्येपणेऽर्मा भविताऽनात्, कुर्याच्च तत्रेऽत्रमोत्रक्षम ॥२७॥

कुर्यात्स एव मतिमानत्रमोत्रागू,

य स्यात् क्षमोऽशनमुरोद्वमने ममथ ।

मन्वद्धता यदि मता विधयाऽनयाऽपि,

श्रुण्ण न चैत्र जिनमागमुपाश्रितानाम् ॥२८॥

आन्तरे तपमि षड्विधेऽर्हता, योगमुरयनातमह उज्जितुम् ।

गासने विधि समुद्धतो, न स, म्वप्नगोऽपि तीर्थिकेषु नश्यते ॥२९॥

गवादिपोषणै परेऽघशून्यता, वर्त्तत तामुपोपणादिमिर्जिना ।

योग्यता विनीतगा ग्रहेशि परे, जिनास्तु पापवर्जकाश्रिताम् ।

(गहाश्रमित्यमेघ धीजमुद्धर्ता, गुणैर्युतत्वमाहता सुकृत्यगै) ॥३०॥

यथादिदेशिका श्रुतिस्मृती परे, शिवाध्वयाहा गमास्तु पाठने ।

श्रितीश्वरोण मश्रित परे जगु, जिना पर्यपापनिश्रयादिचिन्तने ॥३१॥

त्यागमेकमेव जीवने चिना उपाधिमान्तरेतर पुनस्त्यनौ ।

तदेतन्ततर तपस्तु षड्विध, मन्वाऽऽश्रित जिनेश्वराध्वगामिमि ॥३२॥

आश्रवाः समुत्थिता अघोदयान् , केचन क्षयमुखोद्भवा अपि ।  
संवराश्ररणमोहनाशजाः , वन्धनं शमादिमोहज पुनः

कं नु भावमाश्रयेत्तपस्त्वदम् ॥३३॥

चरणमोहनाशतस्तपो ननु स्थायि यन् शिवे पदेऽघभावतः ।  
नोदितं ततोऽद आर्यसत्तमै-हेतुकार्यहानितः शिवाध्वनि ॥३४॥

जैनो मोक्षाध्वयायी न च भवरतिमान् चारके यद्वदाढ्यः ,  
क्षिप्तो निस्सर्तुमिच्छेद्विविधविधिपरस्तद्वेपोऽपि नित्यम् ।  
कर्मान्दोर्भञ्जनाय सततमुदितधीः संवरे निर्जराया,  
बुद्ध्वा मोक्षाप्तिवीजं सरति तप इदं निर्जरानन्यहेतुम् ॥३५॥

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

। अष्टादशोऽध्यायः । ( मोक्षाधिकारः )

जैनो यः स्पृहयेन्ननु संदा मोक्षाय सवेगभाग् ,  
निर्विण्णो भवचारकात् करुणया सिक्तो द्विधा दुःखिपु ।  
आस्तिक्यादिगुणान्वितः स्वरमणः शान्तास्पदं निस्तुपं ,  
भक्त्यर्हो गुणकाङ्क्षिणां शिवकृते स्वर्गादितुच्छं फलम् ॥३६॥

पर्यन्तभागे गदितोऽयमाप्तैः , परं तदाप्तेर्न हि संश्रवाः किल ।  
तदाश्रिता नैव परेऽपि भावाः , सनातनो मोक्ष-इतः शुभं न वै ॥३७॥

अनन्तविज्ञानमनन्तदर्शनं, सातं ह्यनन्तं निजरूपजातम् ।  
अनन्तमम्यक्त्वमनन्यरक्ति, समग्रशक्त्याढ्यमजं यजेत् सदा ॥३८॥

न गर्भवासोद्भवमस्ति दृष्टं न जन्मभाजोत्थममनिरूपम् ।  
 न्याधिन शोको न च नैत्र वार्ष्यं, न चान्तकोऽस्मै प्रभवेत् कदापि ॥४॥  
 न चास्ति ससारभरेऽपि (त्र) किञ्चित्, स्यान् जनुमत्युचिहीनरूपम् ।  
 भय च सर्वासुमताममूढ्या, न वारणीयौ भयतोऽन्यत्र विना ॥५॥  
 अस्मिन् भवे नाम्नि चतुर्गतिष्वपि, स्थितिर्भवेद्यत्र सत्कैरूपिणी ।  
 पूर्णाग्न्यनित्या रमणी स्वरूपे, सा सिद्धिभाजामपुनभवानाम् ॥६॥  
 अतीतकालेन शिव गता पुन-स्तथैव भाविन्यपि भयजीवा ।  
 अनन्तमाना न तथापि भयै-र्विनाश्रुत म्याद्भव एव नूनम् ॥७॥  
 यथाऽन्त्ययाद्य प्रपदुद्वतौ न, श्रयो न चोन्त्यमपारभावात् ।  
 असङ्ख्यभावान्तरिता तु तत्र, भागो ह्यनन्तस्त्रिह सर्गकाले ॥८॥  
 धन्ये प्रयात्येक उन्त्यमृत्यु, शिव तदा तेऽतिगता जनन्ता ।  
 अततविद्वानवियुक्तिभाग्भि-मुक्ति गताना मतमत्र जन्म ॥९॥

सञ्जायते जनिरमुत्र दधाति कर्म,  
 सत्तागत तदपि चाष्टनिधानरूपम् ।  
 यम्यैरुमस्ति न तु कम स जन्मधारी,  
 स्पष्टोऽश्रुतामभय प्रयलो हि तेषां ॥१०॥

आकस्मिकी भवति चेन्निकमसत्ता,  
 निर्वाणमेव न भवेज्जनिकमभावात् ।  
 क्षानादियुक्ता निरिच्छा हि धर्मा,  
 फर्मद्रुमान्बुत्समा न तु मुक्तिनिघ्ना ॥११॥

मोक्षो न चैष भयगामित्शायुतश्चे-  
 जन्मादिदु रस्यनिरेष भयोऽन्यथा न ।



ज्ञानाद्यमोघगुणसङ्गतिरत्र नार्हा,

यत्रास्ति कर्म भवसन्ततिकार्यदक्षम् ॥१२॥

मुक्तानां नहि मोहनीयसदृशा दोषा भवेयुः क्षणं,

तन्नायुर्न च जन्मजातिसहितान्यंहांसि लेशादपि ।

तेषां चेद् भवकूपपातविषदो देवोऽञ्जलिर्नास्तिके,

यन्न्यायेन हि तेन सिध्यति वचो राढान्तशिष्टं क्वचित् ॥१३॥

सूर्यादयो भास्वरभावभाजो, यथाऽनपेक्षाः परकार्यभावे ।

मुक्ता अपि स्वात्मरमा न किञ्चिन्, कदापि कार्यं परमुद्रहन्ति ॥१४॥

वस्त्वस्ति विश्वे त्रितयोन्मुखं य-ज्जन्मस्थितिक्षीणदृशानुयायि ।

ज्ञेयाद्यपेक्षया गुरुलाघवादि-व्यपेक्षया वाऽव्ययमाश्रितेषु ॥१५॥

स्थिताः शिवे यद्यपि मुक्तिमाप्ता-स्तथापि भव्येपूपकारमन्व्यम् ।

वितन्वते यद्वदिहेतिहासाः, पराक्रमन्ते परवीर्यवत्सु ॥१६॥

पदं न मुक्तेर्यदि चेन्न सम्भवि, मार्गं दिशेयुर्जिनपा नु कस्य ।

सञ्चालनं सूरिवरा अधीति, श्रीवाचकाः साधवः साधनं तु ॥१७॥

यदाऽव्ययं नैव पदं भवेत्तदा, धर्मक्रिया नैव फलाय योग्या ।

यतो दिवौकःप्रभृतिर्न नित्यं, शस्या न विद्वद्भिरधोमुखी श्रीः ॥१८॥

परैः कृताऽतुल्यसुखा सुसम्पत्, न तोषदा वीर्ययुजां नराणाम् ।

संसारचक्रे निखिलेऽप्यसूनां, विचेतनार्थप्रभवा सुखश्रीः ॥१९॥

स्वाश्रितेषु रमणं शिवाश्रिते-ज्ञानदर्शनमुखेषु वस्तुषु ।

सर्वकालभाषिषु वरेषु तु, धर्मिणां परं धृतेः पदं नहि ॥२०॥

रूपिणामपि न काचिद्दाहतिः, सूक्ष्मताधरेषु तेजसामिव ।

मुक्तिमाश्रितेष्वमूर्त्तता गुणान्, स्थानमप्यमितजीवसंश्रितम् ॥२१॥

यथाऽग्निधूमादिषु पूर्वयोगा-इतिस्वैपामपयोगयोगात् ।  
धर्माशभायात् परतो न लोकात्, सुक्तोस्ततोऽप स्मरतु स्वलीनान् ॥२२॥

यथोपनेत्राद्विपुल समीक्षत, मनोपदष्टि पुरुषस्तथाऽत्र ।  
अचेतनभ्य मुलमम्पदिद्धा, निग्द्वन्ष्ट्या तुलित शिवे सुगम् ॥२३॥

आत्मैव कर्म फलयेदणुमहतत्वा-ग्रास्ति नत्र कलनाऽणुसमूहजाता ।  
नित्य शिव शिवपत् कटुपादिहीन,

गुण पद ननु निग्द्वनमीहनीयम् ॥२४॥

प्रत्यात्मदक्ष निगिलाथचित्तव, पर न चैषार्धगतो विमिन्न ।  
यस्यापि जनोरुपयोजनादर-स्ततोऽगिलात्माऽगिलयन्नुवेत्ता ॥२५॥

अगोर्यथा मिन्नतमो न चैयो-पयोग उचो विगुणाब्धनोरपि ।  
तथा समन्ताथत्रिदा क्षणे क्षणे-ऽभेगे भवज्ञानदशो मत्स्य ॥२६॥

प्रापेयलात् म्यादुपयोगयुग्म, मिधोऽन्ति भासो मनमश्च वेग ।  
निव न तायात्मस्वरूपभायात्, भवन्न चाग क्षणयोपदष्टयो ॥२७॥

भिन्नेऽथ फालेऽयुपयोजन चे-न्नामा प्रभाय परभायजात ।  
जीवस्वभायोऽत्र तथाविधाते, हेतुत् चैत्र शिवरूपयाय ॥२८॥

न जम तत्रान्ति तना न फाय-भततश्च मयोगधियोगजन्यम् ।  
दुग्म न सौम्य न तितामरूप-सुगोपभोगैक्यमु परामा ॥२९॥

शिव स्वरूपा मपनेय तत्त्वा-भोत्पात्माविभवति म्यरूपात् ।  
न तत्र दन्त पुण्याथभायान्, समघनमप्रत्य तत्र न ॥३०॥

यथाभासो यदि च सुगुणो निवग चेत् समग्ना,  
प्रणान्तात् प्रयग्गुणगणोत्पत्तिरप्रभायात् ।

नव्यानां चद् भवति न युतता कोऽत्र मोक्षे विलम्ब-

स्तत्प्राज्ञानां शिवपथचरणे शस्त एवोद्यमोऽत्र ॥३१॥

हितावगूढा हतकर्मशात्रवा-प्राप्तस्वधर्माः शिवधामसङ्गताः ।

भवन्ति संसारभृतां सुमङ्गला, अर्थास्त्रयस्तत्र सुमङ्गलस्य वै ॥३२॥

स्वयं भवेद्यो भयलेशवर्जितो, भयं परेषां क्षपितुं क्षमः पुनः ।

शरण्यमेपोऽत्र शिवं गतास्ततः, सर्वाघभीतेर्व्यतीताः शरण्यम् ॥३३॥

लोकोत्तमत्त्वं गुणराशिलभ्यं, निष्पक्षकेषु प्रवरात्मभावात् ।

सदातना ऊनविपर्ययोज्झिता,

आप्ता गुणा येन कथं तथा ते ( तद्वाश्रयाः ) ॥३४॥

प्राप्त्यै शिवस्याऽलमुदासभावो, रत्नत्रयाराधनसम्प्रयुक्तः ।

नाग्न्यं न वेपो न विशुद्धजाति-वैशः कुलं नो भरतादिजन्म ॥३५॥

यथा गुडस्यापगताश्रयस्ये, पूर्वाश्रया स्याद्विविधाऽममाऽऽकृतिः ।

शिवं गतानां चरमाङ्गतुल्या-ऽऽकृतिः परं पूरणतोऽवमा स्यात् ॥३६॥

ज्ञाने सदा दर्शनसंयुते परे, प्रयोगवन्तः सुखसम्पदाढ्याः ।

सदैकरूपाः स्मृतिजापचिन्ता-पूजापदार्हा भविनां तु सिद्धाः ॥३७॥

जैनः स एष परमार्थतया शिवैषी,

मोक्षस्य मार्गमनिशं पुरतो जनानाम् ।

वक्ति प्रहृष्टरतिक्रो मुनिमार्गमर्थ,

शेषं त्वनर्थमहितं दृढमार्गधारी

॥३८॥

अष्टादशोऽध्यायः ॥

। एकोनविंशोऽध्याय । (-अहिसाव्रताधिकार ) - । ।

जिनो मन्यत आस्तिकेषु परमो नैवाघमुक्तिनणा,  
 पूज्याराध्यपत्न्याल्लिनीमनसो ज्ञानान्च तत्त्वाग्ने ।  
 शुद्ध तन्मन उद्धतीह दुरित ज्ञान तथा 'तत्फल,  
 वमा हि प्रथमो मत 'स त्रिवुधैर्य स्याच्छुभाचारवान् ॥१॥

घृन्दे सोऽधिपतिर्भवेद्य उदित-स्वाचारमग्नो भवेत् ,  
 सबद्धो विगताघसन्ततिमलश्चारिप्रमन्त्य दधत ।  
 रयात रूपमलङ्घयत मुविहिताचार कपायोद्धित,  
 प्राप्त्यै तादृशमीश्वर जनिरिय मे धन्यतामाश्रिता ॥२॥

अभ्यासयत्नोभयसाध्यमाय राख्याप्यनुष्ठानमुदितिप्रतिष्ठम् ।  
 कार्ये समस्ते द्विविधो भवेत्तत् , सिद्धस्तथा साधनभाजवर्ती ॥३॥

सप्रज्ञा जितरागमुख्यदुरितास्त्यक्ताऽशुभध्यायिता,  
 आचारेषु निरङ्कचारुचरणास्तत्सिद्धतामाश्रिता ।  
 ये तु स्यु सतत चरित्ररमणा कर्मापहारेप्सव ,  
 किञ्चिन्चित्तमनाध्यकर्मविहिताद्वाध्य धरन्त पर ॥४॥

परैस्तीर्थैर्नरा अभिमत्ततमा स्वगादिप्रता-  
 न्मथा ये चोपास्यापन्मनुगता गुणपदगा ।  
 न त्रेपाश्चित्तेषा दुरितरुधिपरावृत्तिरणुरपि,  
 तथापि प्राप्त्याञ्च ( प्यर्हा वृत्तिज ) ननिचयगता-  
 जैनवृत्तीनाम् ॥५॥

जीवाना इनन भपोक्तिरपरदत्त न यत्तद्ग्रहो-  
 ऽग्रद्वार्थग्रहण च पापसचिनास्तागात्प्रसीया तृष ।

एव सत्यपि ( वस्तु ) चिन्तनपरास्तेषां वचो मन्वते,  
मिथ्या यत्र परीक्षकेषु लभते ख्याति व्यलीकोक्तिमान् ॥६॥

आद्ये तत्त्व (धर्म) तथा मते वधयमे नोक्तं परैः किञ्चन,  
तादृग्वाक्यमुदारभावभवनं नैवार्हिताः पालकाः ।  
नोक्तान्येव वधस्य शुद्धविरतौ सत्त्वाधनानि श्रुते,  
मोक्षादिर्न फल मतं वरतमाऽहिसादृत्तानां क्वचिन् ॥७॥

जीवानां हनने सदैव निरतास्ते धिक्कृता नैव तै-  
नैवैषां दुरितार्द्रचित्तवचसां प्रेत्याऽशुभोक्ता गतिः ।  
संसारे सरणं भयङ्करतरं दुःखौघसंदीपनाद्,  
दिष्टं जीववधावलीढकृतिभिः शास्त्रे स्वकीये क्वचित् (नहि) ॥८॥

स्वरूपं जीवानां विदितममलं नैव कुमतै-  
र्यतः प्रोक्त भिन्नं तदिह भवभृत्सु प्रभुपदे ।  
ततो भाव्यं तैः स्याक् त्रितयदलवाग्भिरनिशं,  
भवेत्तत्त्वं भिन्नं किमुत नहि संभिन्नपदगात् ॥९॥

रारट्यतेऽशेषकुतीर्थिकैरिदं, हेयो वधः प्राणभृतां प्रकामम् ।  
परं यथा नाऽस्य फलादिवाच-स्तथैव भेदोदितयोऽपि नैव ॥१०॥  
गतीन्द्रियाद्या जिनपस्य शासने, भेदाः प्रगीता न तथा परस्मिन् ।  
प्रत्यक्षतन्वादिपरिणतीनां, क्षित्यादिषु प्रेक्षणतोऽसवस्ते ॥११॥

ये स्थावराणां पृथिवीमुखानां, जीवत्वमाहुर्न विमुक्तवोधाः ।  
ते निष्कराशिं प्रविमुच्य शुद्धा, भवन्ति कार्पापणदानदक्षाः ॥१२॥  
यो जीवराशिः स्थिरताश्रिताना-मनन्तभागेऽस्य परोऽस्ति राशिः ।  
अन्योऽन्यगाहरय परे न सत्त्वं, भवन्ति तत्तेऽनिधनाः कथं स्युः ॥१३॥

सत्य गृहस्थै कृपिमुख्यरक्तै-र्वधो न चया परिवर्जितुमलम् ।  
तथापि किं दोषकरैरदौष्ट्य, वस्तु तु शक्य शुभवृद्धिमद्भिः ॥१४॥

पटकायग ये परिव्रजयन्ति, वध व्रजेयुमुनिभानमुग्रम् । ।  
गृहाङ्गनाद्रव्यशरीरमौढ्य, त्यजन्ति मोक्षाध्वगमैकयुद्धय ॥१५॥

महाव्रत प्रोक्तमिदं त्वमीषा, त्रिधा त्रिधा कालमशेषमूढम् ।  
पट्कायिकानां वधमह आढ्य, त्यजन्ति यावज्जीवमुद्धताघा ॥१६॥

नालम्भविष्णव इमा निरिलङ्घिहिंसा,  
हातु न ते शुभहन् प्रतिजानते ताम् ।  
शक्य न यत् प्रतिपत् पचनादिसक्ते-  
मिध्याघत च नहि ते प्रतिजानते वै ॥१७॥

वध ते प्रसाना विकृत्पात्रिरागो-गत युत्तमुद्धाय मार्द्रास्त्यनेयु ।  
पर भावना ते मत्त धारयेयु , समाङ्गिश्रिते घात आप्ता मतान् ॥१८॥  
गाह्यथ्यमाश्रित्य सत्ता निर्हित्यु , क्षित्यात्किञ्चान स्थावरभाजमागतान् ।  
पट्कायरश्वोद्यतचेतसोऽमी, नानथक स्थावरग च हन्यु ॥१९॥

गतेऽणुघतधारका यदि पर स्थु माधुभाजोऽप्यता,  
आरम्भादि विहाय सश्रितकुला कुयुर्त्तैकाञ्चित्ता ।  
शास्त्रोक्ता प्रतिमा यत्त स्थिरहृदो गृह्णति सत्साधुता-  
मन्ये तद्रहिता पुनमुनिपठ शीघ्र ग्रहीतुमला ॥२०॥

नन्वेकत्र विशेषण भवतु वो हिंसादिपापोऽङ्गितो,  
श्राद्धानामणु वा महन्मुनिपरे सार्थक्यमेवेन्द्रे ।  
सत्य तद् गृहिणा न सवनियमाङ्गीकार आवश्यक ,  
साधूना निरिलङ्घिधा त्रिविधया त्रैकालिकास्ते यमा ॥२१॥

अन्यत्रातिचरेद् व्रतं मुनिवरो ह्येकं तदा सर्वगो-

ऽतिचारो न परेषु शीलनिचयः स्युः सर्वदा सर्वथा ।

तद्योग्यं गृहिसाधुगं सुपुरुषैर्युग्मं विशेषान्वितं,

याऽपेक्षा श्रुतधारिभिर्नियमिता तां वेत्ति तात्पर्यवित् ॥२२॥

न सर्वतः पापविवर्जनं मतं महाव्रतं किन्तु परापि सत्क्रिया ।

यतोऽभ्युपेत्यैतदुवाच साधुर्विहारमर्हं ननु योजयिष्ये ॥२३॥

शय्या भूमौ नियत उपधिलुञ्चनं केशतत्या,

वैयावृत्त्यं सकलमुनिगतं सर्वदा पाठयत्नः ।

आचार्येषु प्रथितगुणगणेष्वर्पणीयः स्व आत्मा,

धार्यः सर्वो मुनिगण उदयी मोक्षमार्गं सहायः ॥२४॥

गृहस्थानां कश्चिन्न च परिचयो याचनमृते,

यतः सेव्यास्ते स्युर्दहननिचयं यद्वदितरे ।

सदाचारा रक्ष्याः शिवपदकृते पञ्च विधिना,

न काप्यर्हे स स्यात् प्रमदसहितः शास्तृकाथिते ॥२५॥

जातं स्तुषाया मनसि प्रधार्य, पैशाचिकजातयुतं मुनीन्द्रः ।

सदा भवेत् पाठविधौ प्रवृत्तः, कथानके सत्पुरुषावलेश्च ॥२६॥

यथा नृपः स्यात् प्रथमं प्रजाया, हितैषितागूर्मुनिराडपीह ।

पट्कायराशेः प्रयतो हितेषु, लोकोत्तराचाररहस्यमेतत् ॥२७॥

नैवाऽस्य शत्रुर्न च मित्रमस्ति, समश्च भावस्तदिवाहृतेषु ।

जगज्जनस्तस्य हिताप्तिपात्रं, मानेऽपमानेऽपि समश्च स स्यात् ॥२८॥

असंयमाद्यं विधिना प्रजह्या-दाशातनान्तं मुनिरुग्रवीर्यः ।

संलेखनाद्यं च मृतेः समीपे, शिवैककाङ्क्षः कुरुतेऽप्रमत्तः ॥२९॥

प्राणातिपाताद्विरति श्रुतोक्ता, भागी वधो नैव च जीवतत्त्वे ।  
भाधान्वितेषु प्रलयोऽत्र दृश्य-स्वगुक्तेतद्व्यभिधानमस्य ॥३०॥

अत प्रयुक्त श्रुतरारिराशौ, शुद्धे पत्र प्राणप्रधानुसृत्या ।  
नो चेत्समग्रेऽपि समानभावे जीवे हते म्यात् कथमहसा भिन्ना ? ॥३१॥

पुण्याना निचय क्षयोपशमिताऽन्ता च चेत्तत्तमनि,  
म्याद्बृद्धि करणस्य सन्ततिगता स्पर्शादिक सधिता ।  
वन्नाशे सकल बल विलयित तज्जीवग हन्तृभि-  
रेव च गृहिणा व्रसेषु विरति शोभास्वप्न गीयते ॥३२॥

श्याया ननु जङ्गमेषु विरते म्यान् स्थावरराणा वधे,  
साधूनामनुमोदना भयवती त्यागस्त्रमीषा यत ।  
स्रम्यथावरजङ्गमाङ्घ्रिविषयो ( हनने ) यावद्भव सर्वथा,  
म्याचैषाऽनुमतिमन्तश्च विरतेर्भङ्गोऽतिदुःखाग्रह ॥३३॥

धाढ्या किं प्रमरागिसङ्गतवध म्बीयेन तन्त्रेण ते,  
प्रत्याचरयुक्ताऽनगारममीषे द्वेषाऽपि नाह त्विन्म ।  
यस्मान् स्यात् व्रतधारण गुरुमुखान्त्रैश्च स्वय साधन,  
तत्र म्यादनुमोदना स्थिरवध दुष्टा गुरुणामपि ॥३४॥

मस्य चेद् गुरयो दिग्नेपुरग्विल घात प्रतिघोषित,  
नो प्राक् तप्रथमात् पर यदि त्वे प्राहु पुग्मस्य चेत् ।  
याग स्थावरजीवो प्रहनने त्मुक्ते नदा नोपिता,  
जात्यास्य ममथने त गस्तिमन्त्रनुम-गोयम ॥३५॥



तत्तं स्थावरहिंसनेऽसुनियमं कर्तुं गतौत्साहर्कं,  
 दृष्ट्वा जङ्गमजीवनाशविषयां दशुः प्रतिघ्नां पराम् ।  
 पुत्राणां हनने नृपः प्रयतते षण्णां लघुन्यागसि,  
 श्रेष्ठयेकं तनुजं धरन्न भवति द्विष्टोऽपरेपूद्यमात् ॥३६॥  
 प्रव्रजतां यतिनां कुलं प्रजहतां दोषो न किं क्लेशज-  
 स्तस्येत्थ लपतो भवेद्दण्डपतेर्हत्या समा मोहिता ।  
 यद्भावात्वनमेव तद्विधिकृतं हानं न सङ्क्लेशिता,  
 ना मत्तेप्सितवस्तुदाननिपुणाः प्राजा भवेयुर्जने ॥३७॥  
 प्रातौ दीक्षां निवृत्तिपदकरी सद्गुणां प्रसादात्,  
 त्यक्त्वा हिंसां सकलतनुभृतां याति देशान्तराणि ।  
 नद्योऽनेकाः स्वपरविषयगा उत्तरेत्स प्रचण्डा,  
 इत्यादीनि हननविस्तेर्वाधिकानि न किं स्युः ॥३८॥  
 सत्यं हिंसां सकलतनुभृतां त्यक्तवान् प्रव्रजन् सन्,  
 तत्रोक्ते द्वे मुनिपतिमहितैः कारुणे कर्मबन्धे ।  
 रागो द्विट् वा नहि भक्ति मुनिः संयमी तद्विलितौ,  
 यद्वत् सिध्यन् हृदमुखमयितो नाघलेशेन लिप्तः ॥३९॥  
 जैनः स स्यात् प्रथिततममिदं रौचयेत् सद्ब्रतं यो,  
 धन्यः कुर्याद्विगतरतिको वर्जनं धातनायाः ।  
 सत्यं यद्वत् प्रतनुवलभृज्जायते महयोधी,  
 यः स्यान्नित्यं पटुतरकरणोऽभ्यासमेषोऽपि तद्वत् ॥४०॥

इत्येकोनविंशः अध्यायः ॥

१ विंगोऽध्यायः । ( सत्यव्रताधिकार )

- द्वितीये व्रते योऽभिन्वत्त आप्तै-स्त्याग मृपावात्सत्क प्रगीतम् ।  
 जैनत्वयुक्तो मनुते मुनीश, यं म्यात् सदा तद्वरणेऽप्रमत्तं ॥१॥
- यत्र लोका प्रवृन्ति सत्य, निरूपणीय, तदिदं न चारु ।  
 त्रैलोक्यगोभोक्षुर आह विश्वे, कथं समग्रं चित्तं प्रतिक्षणम् ॥२॥
- चाच्य तदत्र यद्व मत्या-श्चित न सत्याश्चितमुच्यते खलु ।  
 एष व्रत चेन्न वर यदेव, न निधनो वाच्य इहामरेश ॥३॥
- सत्यामृपालक्षणविप्रमुक्ता, भाषा मदा विद्वधै प्रयुक्ता ।  
 लोकप्रवृत्त व्यरहारमाप्य, कथं तद्वत्त व्रतभृतं प्रवर्णि ॥४॥
- मृपावादयुक्तं वचो वचनीय-मिद्वेति व्रते प्राहुरत्युप्रयोधा ।  
 विरद्धा प्रतीतिं विद्व्याद्वचो य-द्वान्य तद्वत्तन्निहि शुद्धचेतमा ॥५॥
- अतत्त्व तत्त्व यो निगदति परान् बोधविमुख-  
 मदाऽर्मां मिथ्यात्वी भवति नियतानन्तभारिणः ।  
 मृपानादोऽयेप्रविध इति पृथक्त्व किमु तयो-  
 नं भवोऽग्मात्त मन्व भवति विरतन्तत्प्रमिदम् ॥६॥
- उपादयमर्षं परे मोक्षमार्गे, पदेत् यन्मरु हेयतारूपवत्तम् ।  
 हेय तथा यत्रि पुर परेषा-मर्थं मृपादयतयाऽऽप्रमार्गे ॥७॥
- प्रत्यायेया मृपोऽभिभवति जनद्वि बोधप्यान्वय ज्या सा,  
 प्रोक्तं तन्मा मुनिपनिभिरिदं नद् द्वितीयं तु ।  
 एष शुद्धं यच्चन्तु प्ररहितमणुगो लोफमिथ्याप्रकारै-  
 निदशेणे उच्यभागे रागरोगप्रयुक्तम् ॥८॥

चतुर्विधं गीयत एतदाप्तैः, सल्लुप्यग्नद्वादनतो द्वयं भवन् ।  
 द्वयं तु गर्हाऽर्थपिधानतस्तथा, यथायथं तद्व्यवहारमार्गं ॥१५॥  
 तत्त्वस्य गानेऽपि चतुर्विधं तद्, हेतुः फलं चास्य सुमार्गलोपः ।  
 गीता ततः सत्यतया गिरा सा, याऽऽराधनीति प्रतिबुद्धमार्गैः ॥१६॥  
 लोके यथाऽनुद्रत आह सूर्य, समुद्रतं ह्यस्तमितं त्वस्तमेतम् ।  
 गवादिवस्त्वाश्रितमन्यथार्थं गुणान्वितस्यापि तथैव गर्हा ॥१७॥  
 आराधनापक्षमुपेत्य योक्ता, जीवादयः सन्ति न चैव लोके ।  
 असङ्ख्यमाना भुवि लोकभागा, सतामपभ्राजनमार्पलुप्त्यै ॥१८॥  
 सद्दृष्टयो ये वितथोक्तिशून्या-स्तथ्योक्तिशून्या अपि शुद्धदृष्टयः ।  
 या गीः समाराधनमार्गरूपा, न लेशतस्तत्र विरुद्धवादः ॥१९॥  
 शस्यौघवज्जीवदयाऽत्र मुख्या, व्रतानि शेषाणि वृतेः समानि ।  
 तद्घातकाले ह्यपवादभाञ्जि, मृगादिरक्षार्थमतो मृषोदितिः ॥२०॥  
 कृत्वा निवृत्तिं प्रथमाघधाम्न-च्छब्दस्थभावाच्च भवेद् व्यथाऽस्याः ।  
 तां शोषयेन्नैव मृषोक्तिमान् ना, त्याज्या ध्रुवं सा वृजिनोघभीतैः ॥२१॥  
 यथादयः कर्तृविवाधकाः परं, गणस्य बाधां तनुते मृषोक्तिः ।  
 ब्रुवन्ति विज्ञा व्यवहारजातं, सत्यप्रतिज्ञं प्रकृते विवादे ॥२२॥  
 एकत्र सर्वाणि भवेयुरंहः - स्थानानि, पक्षे पर उक्तिरन्या ।  
 तयोर्मृषोक्तावधिकाऽघताति-र्यतो न तद्वान् व्यवहर्तुमर्हः ॥२३॥  
 जिनेन्द्रसूत्राद्विपरीतवादी, भजेदनन्तानि जनूंषि नित्यम् ।  
 बोधिर्भवेदस्य यतः सुदुर्लभः, परानृतोक्तौ तु विकल्पधाम ॥२४॥

अन्तमुत्तार्द्धवतीह मुक्ति-र्मिध्यादृशा यद्यपि शुद्धमार्गात् ।  
 उत्सूत्रवाचा तु स ण्य दुलभो, भवेऽत्र तद्वद् च भवान्तरेष्वपि ॥१९॥  
 अतीतसङ्ख्या परतीर्थिका जने, श्रुते तु मत्त श्रुतमार्गनाधका ।  
 प्रोक्ता यत् स्युगहभेदिनो जना , प्रचण्डत्स्युभ्य उदारचण्डो ॥२०॥  
 गोशालको यद्यपि मृत्युकाले, सम्यन्त्वमाप्तस्तपि प्रयाता ।  
 भवाननन्तान् जिनरीरवाचो-ऽन्यथावृत्तौ सन्ततमाप्तमोत् ॥२१॥  
 उत्सूत्रवाचो न नरा परान्या-स्तत्त्वेऽपि यत्र तदुक्तिमाश्रिता ।  
 श्रुतोक्तिवाह्या इति ते न जना, अव्यक्ततादृया इति शास्त्रकारा ॥२२॥  
 यत्र प्रथक्त्वे न जिनेशमार्गात्, वित्ता जनेषु व्यग्रहारिषेपु ।  
 तत्राऽन्ययूनीयवद्व तस्म, कृते कृत कलयत आर्हतानाम् ॥२३॥  
 जनो भवेद्दुष्पमयाऽर्हदुक्त-भार्गान्नोधी सुरचिश्रितश्च ।  
 अल्प , प्रभूताश्च भवेयुर्ह-दुक्तेतिमत्या विपरीतवृत्ता ॥२४॥  
 यथा ह्यशक्तो निखिलाङ्घिहिंसा-प्रियजनेऽसौ प्रसघातवर्जी ।  
 तथाऽत्र ससारगतो न सर्वा-नृतोम्निहानौ प्रभुतापत् म्यात् ॥२५॥  
 स्थूरानृतोम्तेर्विरत म जह्यात्, कन्यापशुभित्यनृतानि नित्यम् ।  
 लोके यथाऽसौ भवति प्रतीतो, न म्यान्मपाजादपर पुण्य ॥२६॥  
 जनेऽपराधन्य विनिन्दितो यथा, कर्त्ताधिकस्तत्र भवन् हि साक्षी ।  
 सञ्चिन्त्य न म्यात् प्रतिभूस्तथात्वे, न्यासे न लुभ्येच्च परेण वत्ते ॥२७॥  
 विवजयन्नेवमसत्यमुग्र, क्रमेण सर्जनृतवज्रनाय ।  
 भवेत्समर्था त्रिधाति दम्भता, लघौ कृतोऽभ्यास उदारभावे ॥२८॥

ज्ञेया जिनाः सुगुरवो विविधाश्च धर्मै-  
 र्भव्यैर्जिनेशगदिताऽऽगमशुद्धवाण्या ।  
 चेत्तां करोति विपरीतपदार्थनिष्ठां,  
 कोऽन्यो भवेत् सुकृतिनामपरो हि वैरी ॥२९॥

त्यक्तं गृहं धनयुतं निजका जनाश्च,  
 दीक्षा धृता गुरुजनः परिचारितश्च ।  
 तप्तं तप उदितमोहरजो विधूतं,  
 कृत्वा पुरो जिनपतेर्वचनानि चित्ते ॥३०॥

चेत्तानि लोकवचनैर्न हृदि ध्रियन्ते,  
 लोकानुसारकृतये निजमानसाऽऽस्थाम् ।  
 त्यक्त्वाऽर्हदागमगतां त्रिविधेन वृत्ति-  
 र्हाहा हताश । तदमाप्य पुनर्निमग्नः ॥३१॥

दुर्वारजन्मजलधौ शिवमार्गदायि,  
 जन्माऽऽश्रितो यदि तनोषि कुकर्मनाशम् ।  
 मार्गे जिनेशगदिते हृदयं समेति,  
 भ्रान्तः सुभाग्य उपयाति सुवर्त्म वक्तुः ॥३२॥

यद्येकमेव जनमानयतीह मार्ग,  
 दत्तोऽखिलेऽपि पटहो ह्यमारेः ।  
 लुप्तवाऽर्हदागमवचो भववारिराशौ,  
 स्वाऽन्यान् जनान् निविशतो भविता गतिः का ? ॥३३॥

लोकोपकारकरणैकनिबद्धकक्षा,  
 मोक्षप्रवीणमतयोऽङ्गमुखं वित्तेनुः ।

शास्त्र विनुष्य तन्पि त्रितथोन्मितलीना-

मन्धानुकार उन्तिऽपरे मणौ हा । ॥३८॥

त्यक्त्वा राज्य राष्ट्रकोशादि र्नीज, हत्वा मोह निष्कषाय प्रयात ।

धरत्य मन् देशयामास तीर्थं, तल्लुम्पन् हा [ भयगतिरमणो ]

निर्गनो देवतुष्टौ ॥३५॥

अथ मलयम सुधर्मपत्न्य मत्वा मया तमना,

यो जैन स भवेद्भवेत् मुनिषु प्राप्तप्रमोलेत्य ।

तद्धत्सु प्रभुतापत्सु निहताघेषु प्रकृष्टा स्तुतिं,

मयसु म्वचनेषु मुत्कलमना यो घणयेत् सत्यं ॥३६॥

इति विंशोऽध्याय ॥

। एकत्रिंशोऽध्याय । ( अस्तेयव्रताधिकार )

जनोऽर्मा मनुते कृतायमने त्याग पर दुष्कर,

यस्यात्पणमन्तराधधरण तस्माद्दुस्त्याश्रितम् ।

पेत्तद् ग्रथत आत्मलाभरमिवैत्त तदीरीर्हदा,

न म्मादोषभरस्ततोऽतियद्गुलो घञ्यं तनो धार्मिके ॥३७॥

धौय त्याग्यतया मन परमते सयं तथाप्येतर्क-

विप्रणाहनकादि नोन्तिमिन् मौक्त्यं न तस्येक्यते ।

यद् व्ययहारपरायणा गन्ति सद् ग्रथते मापद,

धौरोऽसायिति ते मथेसृणमुत्वेऽत्तं गृहीत जा ॥३८॥

प्राण्य च धार्थ्यऽपि भवेद्दत्ता-ज्ञान तर्दीज्ञान यथा न म्मन ।

म्यायनेग्रहा उद्धत न, गृणासपि नेम्यहने ह्यन्तः ॥३९॥

तिलापहाराय सुतः प्रवृत्त-श्चकार चौर्यं नृपदण्डयोग्यम् ।  
स्मृत्वा स्ववृत्तं जननीविकल्पितं, स्तनस्य मातुः परिकर्तनं यतः ॥४॥

समुत्सृष्टं स्वाम्थं स्वधनजनगतं सर्वविधया,  
गुरोः पार्श्वे दीक्षां यदि च चरितुं स्वीयकथनम् ।  
गृहीता यावत्तदपरजनगतं जीवनकृते,  
भवेद्याच्यं सर्वं यदि च भवतीहार्पितभुजः ॥५॥

अतोऽहिसां धर्मे मुनिपतिरिहोक्त्वा वृत्तिकृते,  
जगौ साधोर्भिक्षाचरणविधिगं वाक्यनिचयम् ।  
परैस्तीर्थ्यैस्त्रिषु स कलखदनं स्वीययमने,  
यतः प्रोक्तं प्राणावनकरणतोऽघं नहि भवेत् ॥६॥

भवेद् गृहस्थेषु परं मुनीनां, भक्तादि याञ्चार्थगतौ विमानम् ।  
तथाप्यदत्ते च परिग्रहेऽपि, व्रतोद्यतानां नहि दुष्करं भवेत् ॥७॥

आश्रयाशनवसनपात्रगं, न केवलं मुनिस्स्यजेदनर्पितम् ।  
अर्पितेऽपि धनिना तदिच्छया, भोग एव यतिनां व्रते हितः ॥८॥

यत्र नास्ति धनिनः क्वचित् पदे, सत्त्वमाश्रितावनाय तु ।  
योग्यमेव तदपि याचितं भवेद्वग्रहग्रहणमित्युदीर्य च ॥९॥

जिनेन्द्रशासने मताश्चतुर्विधाः, समर्पकाः  
धनी भवी जिनो गुरुश्चतुर्विधः । ततश्च तेषु याचना ॥१०॥

अन्तरायहानितो भवेत्तु लाभ आत्मन-  
स्ततस्तदर्पणाद्विना ग्रहे तु लाभवाधनम् ।  
परस्य सत्कमीप्स्यते विना व्रतस्य साधनं,  
तदापि लाभवाधनं भवान्तरेषु लाभदत् ॥११॥

यदपि साधनमिष्यत आर्हतात् , तदपि सयमपोषणकार्यत । --

गृहीतमप्यणु तद् भवेत् , कुलगणाश्रितमुज्झितमाश्रयै ॥१२॥

तनुमनोवचनानि परिग्रहो, गुरुपदेषु समर्पयतो न हि ।

अननुमत्य गुरुन् स्फुटमात्रात् , धृतिरदत्तपरिग्रहसङ्गकृत् ॥१३॥

अनुत्ति तत आदित आर्हता, मुनिजना सतत नितराश्रिता ।

गणिपते बहुवेलविधिं व्यधु-भ्रमति चमदत्तसमुज्झनम् ॥१४॥

श्वामिता तिरश्चि यावदात्मजीवन भवे-

न्नरम्य षोडशाद्विका प्रम पितुस्तु लौकिकी

( स्म्रयायुते च वप्तरि ) ।

मतेत आरत श्रुते मुग्ग हि शिष्यचोरिका,

मुसयमापण न तत्र रक्षण तथाविधे - ॥१५॥

याचित्वाऽऽदृष्टिग्रहपात्रनिचय साधुर्न विज्ञापये-

दाचाग्रप्रमुख श्वलाभरतिरुन्नत्तत्प्रहायार्थतात् ।

श्रेष्ठोऽसौ न भव शिष्याभ्रगमने यत् सा महारोधिका ॥१६॥

श्वसोच्छ्वासोऽपि माधोन भ्रमति गणिनामाज्ञया वर्जितो नु,

का वार्त्ताऽन्यस्य करणे चरणगतविधौ तस्ये यन्न प्रभुत्वम् ।

कुत्राऽप्यर्थे यतोऽसौ न धरति तनुक नैत्र गृहात्यन्त,

दु शस्य चेत्तदेतद् जिनमुनिविधय सर्ग प्वविधा त्रै ॥१७॥

मुष्णाति धाटी विजने धनेशान् , मुष्णन्ति चौराश्चलमाप्य लोकान् ।

विमुष्य लोकान् छलगतिहीना , सब मदीय कथयन्ति विप्रा ॥१८॥

न चोपकाराय जनस्य चोय, यतो भयात्तस्य भ्रमत्यतद् ।

अनधकृन्नैव परार्थकारी, तथाऽत्र मुष्णन् परकीयमथम् ॥१९॥



राज्ञोऽपि देशेषु परेषु सत्ता-कृते समित्याद्विकृतिर्न युक्ता ।  
 चौर्ये कृतेऽन्योक्तिविरोधरोधौ, न्यायादपेतौ किमुत प्रशंसा ॥२०॥  
 मुग्धान् प्रतार्यार्यक्षयं प्रतन्वन्, एतत् सहस्रैर्गुणितं प्रदाता ।  
 भवे परस्मिन् भुवनेश इत्यपि, वदन्नहा ! किं जनतारिताभाक् ॥२१॥  
 कार्यं निजैः श्राद्धमवश्यमार्यैः, परेतमातापितृपुत्रमुख्यैः ।  
 इत्थं वदन्तो नहि दग्धवृक्षं, निपिच्य लोकान् फलभाजनं व्यधुः ॥२२॥  
 मत्वा पापं चौर्यमार्यं मूर्खाः, पातं श्वश्रे निश्चितं  
 लम्भितारः ( कुर्वते ते ) ।  
 चेद्धर्मेति प्रोच्य मुष्णन्ति मुग्धान्, काऽमुत्र स्याद्गुणतिस्तादृशानाम् ॥२३॥  
 ये स्वं निगद्य परमेशतयाऽवतीर्णं,  
 भक्ताज्जनाद् द्रविणधान्यवराङ्गनानाम् ।  
 आदाय विष्णुवदिहाऽधमकार्यवाहा,  
 हा हा ! स्वभक्तसहिताः कुगतौ कथं स्युः ॥२४॥  
 भक्तान् मृतान् परगतौ सुखसाधनानि,  
 लेखं विलिख्य परमेश्वरतोऽर्चयामि ।  
 उक्त्वा हरन्ति धनसञ्चयमाश्रितेभ्यः,  
 केऽन्ये मलिम्लुच इहात्र इमेभ्य आत्य (विधर्मवन्तः) ॥२५॥  
 एवंविधेषु कुमतेषु षट्चरत्वं, दृष्ट्वा श्रयेद् व्रतपरान् गुरुदेवधर्मान् ।  
 जैनः परत्र सुगतेर्नियमाद्धि पात्रं, यस्माद्विशुद्धमतयः  
 सुरसिद्धसौख्याः ॥२६॥  
 यद्यपि शुद्धं धर्मं मत्वा, तद्वन्तं समुपास्य सुभक्त्या ।  
 गच्छति दिवमुदितात् शुभपुण्यात्, किमुताणुव्रतधरणे लीनः ॥२७॥

शुद्धा यो विदधाति सज्यवन्ति तस्यैव धमा वर',  
 पूजायामित उक्त एष शुचिता भावाधिकारे सदा ।  
 शुद्धिं सङ्गत एष एव मुनिमिधर्माधिकारी मतो,  
 जैनोऽतो भवतीह सदन्यवहृतौ रक्त शिवेप्सुयत ॥२८॥

कलामधिका व्यवहारमार्गाद्, गृह्णाति जैनो न परस्य पार्श्वोत् ।  
 कलार्थिनोऽन्यस्य न दुर्दशाया, घृणा भवेत् किन्तु परो हि तोष ॥२९॥  
 द्रव्यादिनाशे जनिते कुपुष्ट्या-दिभिर्न लाभ प्रजल प्रतीच्छेत् ।  
 भवेत् प्रशस्ता जनिते ह्यपद्रवे, पाप च तस्या अपि घोरदु खम् ॥३०॥  
 प्रयोजयेत् स्तेनप्रिधौ न चारान्, आनीतमर्थं न च तै समर्थम् ।  
 ज्ञात्वाऽऽदीताल्पधनेन नैव, समानरूप न दधीत वस्तु ॥३१॥  
 प्रनाभिपित्तो हितकृत्प्रजाया, नृपस्तनोतीह सुनीतिमर्हाम् ।  
 च्यतिममेतैव जिनेन्द्रधम, ज्ञात्वा सुनीतिप्रवर स जैन ॥३२॥  
 मान तुला नैव धरेद् त्रिहीना-धिका यदतद् व्यग्रहारि चौर्यम् ।  
 समाचारन् मद्बन्धग्रहार्मेन-मुपार्जितार्थेन सुपात्रपोषी ॥३३॥  
 न चैष धर्मार्थमुपाजयेद्वन, चेत्तर्हि धर्मार्थमघानि सृजेत् ।  
 मृत्योर्विभीतो घृजिनाप्तिवर्जी, भवेत् सदा न्यायपर स जैन ॥३४॥

कर्त्तार प्रति गच्छतीह दुरित नाकतक कम यत्,  
 सत्यप्येवमसौ सदा विहरति प्राप्याऽऽहत शासनम् ।  
 न म्यात्तम्य त्रिगहण नयपपोहद्घान् परत्रार्हतो,  
 धमा येन भवेत् सुदुलभतरो जैनो रत म्यात्रये ॥३५॥

अन्यायागतमथमर्पयति सोऽर्थेशान् नयेप्सुयक ,  
 म्यान्चैत्यम्य विधौ क्षमो जिनपतेरर्चा विधानु यव ।

सङ्घस्याग्रत उच्यते विधिपदेऽर्थस्यास्य शुद्धिः कृता,  
तत्तत्स्वामिसमर्पणाद्भवतु मे मत्स्वार्पणात् सत्फलम् ॥३६॥

अन्यायोपगतं धनं न यमिनोऽर्थाय व्ययाय क्षमं,  
यच्चौर्यागतगोमयेन विहितं भोज्यं परां विकृतिम् ।  
गत्वा चौर्यमतिं चकार मुनिपे हारादिराशेः स्फुटां,  
वान्तेऽस्मिन् प्रतिसञ्जहार वणिजं तं तन्नयं साधयेत् ॥३७॥

जैनो यद्यपि साधनं विमनुते सांसारिकी सत्क्रियां,  
सल्लोकानुगतश्च नीतिसहितां द्रव्यस्य सिद्धौ तकाम् ।  
तत्त्वेनायमुदाहृतिप्रचयतो द्रव्यागमं बुध्यते  
लाभस्य प्रतिबन्धके विलयिते जैनः परोऽसौ मतः ॥३८॥

इत्येकविंशोऽध्यायः ॥

। द्वाविंशोऽध्यायः । ( ब्रह्मव्रताधिकारः )

भतं ब्रह्मचर्यं समैस्तीर्थनाथैः, सदा मूलभूतं सुवर्माद्दुराणाम् ।  
शिवातिसुवृक्षस्य तज्जैनवर्यं-स्तुकीतैतद्द्वरणोद्यतं च प्रकामं ॥३९॥

जायन्तेऽसुभृतामसङ्ख्यविकलाक्षाणाममेया व्यथा,  
मर्भोद्भूतिभृतां नृणां नवशती बाध्येत सञ्ज्ञायरैः ।  
लक्षाणां विषयोऽस्या नरभवे दुर्धार्यमेकं व्रतं,  
तत्पण्ठप्रतिमाश्रितेऽपि कथितं यावद्भवं धारणम् ॥४०॥

देवा स्वनायकयुताः प्रणमन्ति नित्य,  
 धैमानिका भजननाथसुवर्णसङ्घा ।  
 ये दुष्कर व्रतमिदं शिवसाधनोक्ता,  
 नित्यं मुचेतस इह प्रविधारयन्ति ॥३॥

श्रीमज्जिनेन्द्रविततो दृष्ट एष पन्था,  
 शुद्धागमेन यशसा पदमानीतश्च ।  
 विद्वद्भरैर्द्वयमयोऽत्र पुनश्चतुर्थ-  
 ऽन्योऽध्वा मतोऽयमपवादपथस्वरूप ॥४॥

मोक्षाध्ययायिजनतान्निवित समस्त-  
 जैनागमैः सततवारितमेतद्वह ।  
 रागद्विपालिभूत एतदुदीर्यते न,  
 मोक्षाध्ययानपरमारिसमां यतस्तौ (च तां स्त) ॥५॥

चन्द्रय सकलनातिगतित्रिताना ससारिणामिह पर नरजातिसस्थ ।  
 शक्नोति रोद्धुमलमेनमुदित्वरश्रीराप्तागमोन्तितमर व्रतमादधीत ॥६॥

कम्याश्चिन्न विवेकसम्पदमला तत्पूर्विका च क्रिया,  
 कम्याश्चिन्न त्रिचारवर्तनगत सम्पत्ततेरान्तरम् ।  
 नृत्वे ह्येव भवेन्मतेरसु पुनश्चेष्टा विचित्रास्ततो,  
 ब्रह्म स्यान्नरजन्मसु न तु पुन शेषेऽङ्घ्रिसार्त्रे क्वचित् ॥७॥

मोक्षो यत्रापि लभ्यते व्रतधरैराप्तागमोदीरिते-  
 स्तत्रापि प्रशमैकहेतुरमल ब्रह्मैव सत्कारणम् ।  
 यत्तिष्ठन्तरजन्मधारणपरो मुक्तिं न चैत्राऽनुते,  
 कामोद्रेऽपरमन्त्र न मत सिद्ध द्वितीय पन्म् ॥८॥

संसर्गतोऽत्र वनिताजनसम्भवात्तु,

शेषाघसङ्गतिपदानि न दुर्लभानि ।

पापप्रचारणपदं प्रतिबुध्य तत्तत्,

त्यागो जिनेश्वरमते प्रथमो मतोऽस्ति ॥१॥

मैथुनं भवति तत् त्रिधा त्रिधा मनोवचस्तनुभिराप्तसङ्गमे ।

यत्कृतं स्वयमपि च कारितं शस्तमेतदपरं त्रिधा पुनः ॥१०॥

यद्यपि पुनरिदं त्रिधा भवेत् मानुषामरपशुप्रभेदतः ।

वर्गणाधिकारतः पुनर्द्विधा वैक्रियं परमुदारकायजम् ॥११॥

भेदा अष्टादशामी प्रवरवृजिनदास्तेन तावन्त आतै-

र्भेदा अत्रह्यजाताः श्रुतततितनने स्पष्टमुक्ता मुनीनाम् ।

भेदास्तावन्त एव प्रवरमुनिवरैर्ब्रह्मचर्ये हि प्रोक्ता,

आदेया धर्मधुर्यैर्धदि शिवगमनं प्रेप्सितं स्यान्निरागः ॥१२॥

स्त्रीणां कृते जगति देशधरेषु पूर्वै-

सङ्ख्यातिगा जनविनाशकरा महान्तः ।

यद्विग्रहास्तदवबुध्य नरः सुखार्थी,

कुर्यात् सदा विरमणं परदारसङ्गात् ॥१३॥

विद्येश्वरोऽथ वचनातिगकीर्तिपात्रं,

सानिध्यसम्पदधिको नियमादृतोऽपि ।

सैन्यं प्रचण्डबलवत् सततं दधानो,

हा । रावणः क्षयमितः परदारक्तेः ॥१४॥

श्रेष्ठ्यासीद् दृढशीलमानसधरो राज्या कृतान् सोढवान्,-

उपसर्गान् विविधान् सुदर्शन इति प्रौढेन नाम्ना पुरा ।

यद् इष्ट्वा नृप आश्रित मुनिसम त क्षामयित्वा भृश,  
जाता चाऽमरममन्स्य सुररा गाने व्रतस्य स्थिते ॥१५॥

यद्यपि प्रतिव्रत मुनीश्वरैस्तु भावना ,  
पञ्च पञ्च कीर्तिता स्थिरत्वसाधनाय ता ।  
दुराचर मत त्विद जिनेशशासनाधिपै-  
मन्तोऽधिका मता नरैव वृत्तयोऽत्र बाह्ये ॥१६॥

व्रतेषु शेषेषु विनाधनोत्थिता, यथा मता साधुपैकभावनै ।-  
प्रोच्याऽत्र तावत्य उदित्वरो नहि, वेत्ते यथा न्याज हि वृत्तयस्तथा ॥१७॥

नैत्रयासो ललनाजनेन, नाऽस्या पुरो वा कथयेत् कथा न ।  
गासीत साधुस्तथैव आसनं, त्रिलोकनीयानि न चेन्द्रियाणि ॥१८॥

पुष्टान्तरस्थो न भवेत्तु तस्या , मरेच्च नैवाप्रतिक्रियाया ।  
उन्मादकारीणि न चानुवीत, बह्वाग्नो नैव भवेच्च साधु ॥१९॥

व्दीरिते वद इमा न विन्तु, प्रागेव रक्षाकरणे समर्था ।  
ता वृत्तयो यप्रभव फणात्, क्षेत्रस्य शिष्टा वनिराप्तमुत्त ॥२०॥

मुनीश्वरा पञ्चमहाव्रतौ मत्वा, शिवाप्तिकामा निरवा बहन्ति ।  
तथाऽन्यनन्य जगुराप्तपात्वा , मद्ब्रह्मचर्यं वदनीयमन्यम् ॥२१॥

स्थितो जिनेनोदितसाधुमार्गं, तप प्रभावात् शान्तिश्च घोरा ।  
तथापि शोषेप्सुरवाप पात, धर्तार ण्तस्य सुदुष्करक्रिया ॥२२॥

गुरो वृत्ते वाम उदीयते शै , सद्ब्रह्मचर्यं मुनिमार्गिणै ।  
साधो समप्रा मुनिमार्गचर्या, धान्त्यान्धिर्मे दगमङ्करमाने ॥२३॥

स उत्तरवन मत तु धर्म, गुणोऽयमुणो मुनिमूलमार्गं ।  
तथा च तद्वेग विरचनाया, मूलस्य रक्षाकरणाय तत्तु ॥२४॥

निवृत्तिरूपाणि महाव्रतानि, ततो मिथुनाद्विरतिर्न्यगादि  
 ब्रह्मार्थकत्वे गुणताऽऽत्मतत्त्वे, न तत्प्रतिज्ञा न भवं च यावत् ॥२५॥  
 हिंसादिवच्चेदमघस्य धाम, लोके प्रतीतं मिथुनं ततोऽस्मात् ।  
 प्रसिद्धरूपा विरतिर्जनेषु, लोकोत्तरे चाध्वनि सुष्ठु गीता ॥२६॥  
 मानुष्यकं ब्रह्म समाचरन्तो, गवाश्वरां तत्तु विहेडयन्ति ।  
 तल्लोकवृत्तेर्विहितं न तत्त्वाद्, वधादसूनां विनिवृत्त्यभावान् ॥२७॥  
 ये ब्रह्मचर्यात् परिभ्रष्टिभाताः, सद्ब्रह्मचर्यान् यतिनः पदेषु ।  
 स्वीयेषु भ्रष्टाः परिपातयन्ति, प्रेत्यापि तेषां न वृषाण्तिरर्हा ॥२८॥

अमैथुनाः सन्ति दिवौक आद्याः ( सुधाशनाद्याः ),

परं न तेषां वृषलाभ उक्तः ।

भवस्वभावाद्विरतिर्न तेषां, तस्या अभावे न च संवृतत्वम् ॥२९॥  
 कृतेरभावे यदि स्यात्तु संवरो, व्यङ्गेन्द्रियाणां सविशेषतः स्यात् ।  
 एकेन्द्रियाः सूक्ष्मतरा न कञ्चिन्निवृन्ति ते नैव परैश्च हिंस्याः ॥३०॥  
 प्रतिक्षणं स्युः परिणामभेदाः . स्थास्तुव्रते स्यादुररीकृते तु ।  
 विना प्रतिज्ञां करणिर्न चोक्तं, प्रामाणिकत्वेन लिखेत्कदाचित् ॥३१॥  
 ननु व्रताज्जीववधाद्विरक्ते-र्गतार्थमेतत्कथमुच्यते वै ।  
 यतोऽङ्गिनां स्थावरजङ्गमानां, वधाद्विना नैव भवेत्तु मैथुनम् ॥३२॥  
 सत्यं जिनानां पृथगेतदस्ति, न मध्यमानां जडताभृतां पुन  
 राद्यन्ततीर्थे यतिनां विभिन्नम् ॥३३॥

गच्छत्सु घातं न ऋजुः प्रयोगः, कायेन वाचा मनसा च कश्चित् ।  
 न चात्र व्रीक्ष्यन्त उपद्रुताङ्गा-स्तेनेदमुक्तं पृथगेव विज्ञैः ॥३४॥

परिमह स्याल्लनाङ्गसङ्गो, स्वीये पराम्येऽपि समानमेतत् ।  
 तत श्रुते तदुन्नतपाठ एव, विभिन्न उक्तो मुनिभिर्द्वयोस्तु ।  
 भवेद्विरक्तियतिना वहिर्द्धा-नानाद् द्वयोश्चात्र समागम कृत ॥३५॥  
 त्रिधा त्रिधा यतिनामिद पुन , श्रद्धास्तु विविधैरभिग्रहै ।  
 अणुव्रतेऽत्राम्यतिचारभावनना द्विधैऋवाश्रित्य धुरधुरोन्विता ॥३६॥

जैन सम्यग् विशदमनसा सस्तुवीतात्तरगं,  
 यावज्जीव धरति शिष्टं ब्रह्मचर्यं पराश्र ।  
 श्रद्धान् कांश्चिद् व्रतरतिमनस शक्तितस्तद्ब्रतश्च,  
 नसाराधो जनुरित्मनघ दुलभ प्राप्तुमेतन् ॥३७॥

इति द्वारिणोऽध्यायः ।

१ त्रयोविंशोऽध्यायः । ( अपरिमहव्रताधिहार )

जैन स एव मनुते गतकिञ्चन यो,  
 मोक्षाध्वमाधनपट्ट निचमुक्तिसिद्धयै  
 ( रागद्विपात्कृतमेतत्पृवजालम् )  
 यस्मिन्नरेश्वरसुरेश्वरसन्तति स्यात्,  
 प्राप्तात्रतारमृतिसङ्कलिताऽघपूर्णा ॥१॥  
 अन्ये ग्रहा परिमिताभ्रविचारिण स्यु ,  
 काल चरन्ति निजराशिगतास्तु व तम् ।  
 चना गतिं क्वचित्मी दधते स्वराशो,  
 कित्वेप सर्वत्रिपमो ग्रह उग्ररूप ॥२॥



प्रेत्य ग्रहास्ते न तु सार्द्धसंधाः, न गर्भगानां प्रचरन्ति सार्धम् ।  
 स्वस्यैव ते तन्वत आधिजातं, कदापि सम्पत्तिमतुल्यरूपाम् ॥३॥  
 अयं तु सर्वासु चरन् दशासु, किम्पाकवत् स्याच्च मुखे सुखाय ।  
 अनन्तदुःखार्पणतत्परोऽन्त्ये, परो न सर्वज्ञमृतेऽस्ति(स्य)वे (भे)त्ता ॥४॥  
 अनादिकालीनसमस्तजीव-राशिस्थ आध्येकपदं नराणाम् ।  
 एकादशं स्थानमितोऽपि साधुः, प्रत्येति तन्मादपि मूलमाद्यम् ॥५॥  
 अभव्यजीवाः परिपाल्य शुद्धे, चारित्रमग्न्यं सुभलेऽयथाऽऽह्यम् ।  
 पुनः पुनर्भ्रान्तिमनन्तकालां, सदा धरन्तीह परिग्रहेण ॥६॥  
 सदा ग्रहं विष्ट उदित्वरं न, नरः प्रयातीह सदा ग्रहं त्वमुम् ।  
 स्यादात्मतन्त्रोऽपि गतात्मतन्त्रो, वेत्त्यात्मतत्त्वं विदितात्मतत्त्वः ॥७॥  
 लोकोत्तरेऽयं त्रिविधे सचित्ते-ऽचित्ते च मिश्रे द्रविणे प्रगीतः ।  
 भावे च तत्त्वं कथितं जिनेशैः, मूर्च्छालवोङ्गं द्रविणं किलास्य ॥८॥  
 अशोकवृक्षादिमहर्द्धिमत्त्वं, परःशतानां यतिनां प्रभुत्वे ।  
 अनन्यरूपा बहवोऽतिशेषाः, निस्सङ्गचक्रथेष तथाऽपि गीतः ॥९॥  
 अतः स्वकीयाननगारिणो न, हठान् क्रियां कारयतीह सूरिः ।  
 एते मदीया इति वक्ति नैष, परिग्रहप्राप्तिभयाकुलत्वात् ॥१०॥  
 आदेशदाने यतिनां तदीयां, याञ्चामधिप्राप्य न चेत्स पिङ्गः ।  
 आज्ञापयितव्यपदं न तेषां, परिग्रहान्तःकृतिता च नैवम् ॥११॥  
 साधवो विदधति प्रभून् प्रति, मार्गणं प्रतिक्रियं न तद्धठात् ।  
 यद् विदन्ति तेन भाविनीं, व्यथां ततो मुनीशवाचया प्रवर्त्तनम् ॥१२॥  
 प्रवित्रजन् श्रीजिनराजपार्श्वे, यदात्मनाऽऽख्याति मधिष्यदिच्छाम् ।  
 तदापि साहाऽत्र न विघ्नकार-स्त्वया विवेचस्तव सौख्यवृत्तिः ॥१३॥

धर्मार्थपापप्रतिषेधकारण, महाव्रतोन्चारतदर्हशिक्षणम् ।  
सूत्रार्थदान शिवमागवार्ता, परिग्रहित्व नैकतमेष्वमीषु ॥१४॥

स्थानेषु धर्मस्य ममत्वभावात्, धरन्नपि म्यान्ममताप्रसङ्गी ।  
परिग्रही यन्नहि धमधाम, प्रमादपोषाय जिनैः प्रगीतम् ॥१५॥

बुलीनता बुद्धिरनुत्तमा यदि, बलं च बाल्यभ्यकमग्न्यमाप्तम् ।  
परामिभावाय यदि प्रयुङ्क्ते, तान्येव तस्य प्रमजन्त्यघाय ॥१६॥

गृहीतिराऽऽदावनगारिणा या-ऽऽहारोपधे म्वीयशिश्रान्तिसिद्धयै ।  
परिग्रहो नैव, यतो ग्रहो न, प्रयुक्त एक परिणा सहोक्त ॥१७॥

पराणि पापप्रणानि यानि, धामानि नो तान्युपसर्गन्ति ।  
ततोऽपवादीयपत् विन्दे नाशोऽपि नैत्रात्र परे परत्वे ॥१८॥

एव जिनात् बहुमानघृत्त्या, स्मृत्वा च तेषामसमोपकारिताम् ।  
आराधकोऽर्चादिकपूजनात्-मर्चामुत्तस्यात्परभृद्विदध्यात् ॥१९॥

न तत्र तस्याघपत् परत्र, वेद्यं न दोषश्च गुणोत्तमानाम् ।  
देवेशचीणा प्रतिमाहृद्वा, निषेधयन्नो किमघप्रधान ? ॥२०॥

श्राद्धस्य धमाऽस्थिरजन्तुरक्षा, सदा प्रवृत्त क्षितिमुरचनाशे ।  
पूजाकृतौ योग्यपदानुमाग-दर्हद्गुणेष्वेव भवन्निमग्न ॥२१॥

यथा प्रसाना हननान्निघृत्तो, मये च मासे च सत्सु भीत ।  
यथा तथा नो भवतीह मथुने-ऽधिकेऽपि मानुष्यधाघलेपे ॥२२॥

नाज्ञानभाजो न च निर्दयन्ध, गुणैस्त्राग प्रभुपात्यो पुन ।  
न चेन्मुनीशादिनति शिवाय, तत् कर्मबन्धस्य यत् प्रशसा ॥२३॥

नेर्यापथो बन्ध उदस्य क्षीण-कपायितां सा च न दीर्घकाला ।  
 विहाय सार्वज्ञ्यधरं ततोऽमी, सप्ताष्टवन्धा नियमाद्भवावलौ ॥२४॥  
 मतं न निर्वासस उद्यमाढ्य, शिवाय योपक्रिययोपयोगि ।  
 सत्संयमे स्यादुपकारकं त-ह्लिङ्गाच्च धर्माच्च बहिर्भूतास्ततः ॥२५॥  
 न भावलिङ्गं नियतं तदेपां, नाग्न्येऽभिनिवेशश्च मते ह्यमीपाम् ।  
 ततश्च कैवल्ययुतां शिवाप्तिं, निषेधयन्तीह दिग्म्वराः स्त्रियाम् ॥२६॥  
 नार्या यतः स्युः शिवसाधनक्षमा, विहाय वासांसि तदीयधर्मे ।  
 न चाङ्गनानां गतचीवरत्वं, न तैर्जनेषु प्रसृतैश्चियोगिनी ॥२७॥  
 सत्साधनानामुपकारकर्तृता-मुदस्यता तेन निराकृताः समम् ।  
 ईर्यादिका, येन न ता भवन्ति, विनोपकर्तृन् प्रयतात्मनामपि ॥२८॥  
 गृह्यन्यलिङ्गेषु शिवाप्तिभावो, माधुकरी या च मुनीशचर्या ।  
 तथा जिनार्चा नयनादियुक्ति-न्यपेधयेत् सर्वमिदं विबुद्धिः ॥२९॥  
 ये लुम्पकाः कुर्वत ऊननाम्ना, तपो यथोक्तोपकृतीः प्रतीत्य ।  
 द्यामुखास्ते वधमङ्गिनां यतो, जिनान् विहायास्त्यवमो न तासु ॥३०॥  
 अणुव्रतेऽस्याऽऽद्वियते स्वकेच्छा, मानाधिकस्य विरति ग्रहस्य ।  
 इच्छा यतः प्राप्तधनानुयाता, सदा न सेत्यस्य मतं व्रतत्वम् ॥३१॥  
 ग्रहेऽप्यमुष्याप्रत आचरेन्त, क्षेत्रादिभेदेषु परिग्रहेषु ।  
 अन्यान्ययोगक्रयणप्रकारान्, स्तुत्यः स एवाणुधरोऽपि सद्भिः ॥३२॥  
 वदन्ति केचिज्जठरादिपूर्ते - रावश्यकोऽर्थस्तत आदरार्थः ।  
 मिथ्या, यतः सन्ति जना अतृप्ताः, समृद्धिमत्स्वीश्वरनिर्जरेषु न  
 ( न्तोऽमरनायकास्तथा ) ॥३३॥

अन्यानि पापानि समाचरन्त , प्रवृत्तयोगास्तदुपादानाना ।  
 गृहीतमर्थं मनसीहयित्वा, पुरश्च पश्चाच्च पृथ्वाघचित्त (चेता) ॥३४॥  
 रौद्र ध्यान लीनताभाग्धनेषु, धत्तेऽश्राणा पुष्टयेऽर्थं प्ररक्षन् ।  
 मृत्वा याति तादृश कुत्सिताया, तियग्जातो लोभरक्षापरायाम् ॥३५॥

जीवो ह्येक सकलभवगता एति तास्ता व्यथा नु  
 सद्गाहोने स्वजनरहितस्तासु तासु प्रदिक्षु ।  
 आत्त सद्ग स्वजनप्रिधये नैव ( ते ) भोगकाले,  
 दु र्ण लत्वा ( परवशगता ) नैव कुर्वन्ति भागम् ॥३६॥

जैनोऽसौ य सदा म्याद्रतधनकनने रत्तचेता मुनीशे,  
 दानार्हं सद्गत सत्कुरुत उदितभा गेहकार्ये निरीह ।  
 शस्तेऽसौ तोपमेत कुमरपदगत त्यक्तराज्यार्हमान,  
 सन्तुष्ट सर्वदाऽसौ जिनपत्नरमणो मोक्षकामो महात्मा ॥३७॥

इति त्रयोविंशोऽध्याय ।

। चतुर्विंशोऽध्याय । ( जिननिम्वाधिकार )

जैनोऽसौ जिनराजिपात्कमले भृङ्गोपमानश्चरेत्,  
 धत्ते ध्यानमनारत प्रमुपदोर्मोक्षाप्तये भक्ति ।  
 लोनेऽसौ गलु दुर्लभो भविजनाम्भोजप्रभोषे रवि-  
 र्धत्सद्गात्परेऽपि भव्यनिवहा स्युधमसिद्धर्थ क्षमा ॥४॥

प्रतिन्नि प्रग आत्नरत पठे-च्छुचिमनाम्ननुवाच्छुचितावित ।  
 यदि पर मनसा शयने स्थित , परविधिश्च परिःकृतता गत ॥४॥

भवति नैव विधि चरतां नृणां, श्रुतगताविधिजातमग्रं पुनः ।  
यदि च कष्टतमा तनुजास्थिति-र्नहि तदाऽविधिरास्पदमहंस्वाम ॥३॥

सा मङ्गलं प्रविदधातु जिनालिरग्न्यं,  
स्वर्गापवर्गसुखदानपरा जनानाम् ।  
या दुष्टकर्मकलिलावलितः परम्ना-  
द्यस्याः परा न शिवगा न च पूज्यपादा ॥४॥

गर्भावतारसमये जननीं प्रसुतां,  
याऽदर्शयत् सकलजन्मगताङ्कधात्रीम् ।  
चक्रयङ्कितादधिकदीप्तिधरां चतुर्भिः,  
स्वान्नालिमुद्गुरवृषा दशाभश्च युक्ताम् ॥५॥

जिनवरा जितरागमदाः सदा, भविजनान् सुकृतालिपरोद्यतान् ।  
दुरितकर्मभरात् सुगमाध्वना, विदधतु प्रवरोद्यमशालिनः ॥६॥  
अतिप्रभाते जनताहृदञ्जे, माङ्गल्यसौख्यैकधनप्रकाशम् ।  
समग्रघस्रं गतविघ्नराजि, कर्तारमाप्तं सुखदं धरेद्वै ॥७॥

त्रिलोकनाथोस्तत आप्तबुद्ध्या, हृदञ्जकोशे धरति प्रगेऽयम् ।  
परो न तेभ्यो जगदर्थकारी, स्वर्गापवर्गप्रद एव नास्ति ॥८॥  
मुखं प्रगे पश्यति सज्जनः सदा, ससन्ततेरादृतनीतिरीतेः ।  
असङ्ख्यकालं प्रभुता जिनस्य, विचिन्त्य वक्रत्राञ्जमुपस्य वेक्षे  
( पश्यामि मुखाञ्जमस्य ) ॥९॥

शास्त्रे यद्यपि सर्ववस्तुविषयं न्यासे चतुष्कं मृतं,  
भावोऽर्थाकर उच्यतेऽर्हति परं पूज्याः समेऽमी यतः ।

नाम्नि श्रीमति सस्थिता श्रुतमता सञ्ज्ञाऽऽहता नोऽपरे,  
 तद्वन्त प्रतिमा सुरासुरनरै पूज्या द्वितीये मता ॥१०॥

त्रिंशत्या धरसाधनैर्जिनपद यैर्बद्धमर्गाग्भवे,  
 ते द्रव्ये न तु तत्रय विरहित पूच्यन्वबुद्ध्याऽन्यत्रत् ।  
 सिद्धाद्येषु चतुषु भावगतयेऽप्रातीर्यतेऽर्हत्पद,  
 मर्वा पूज्यतमा नृणामधिगता निक्षेपसिद्धा विधा । युग्मम् ॥११॥

अन्ये यद्यपि सम्भवेयुरपिला निक्षेपमत्का जिने,  
 शास्त्रोक्ता त्रिधय पर न तु पन् तेषा व्यग्रच्छेदकम् ।  
 नार्थाग्विद्यत उक्तमत्र पुरत किञ्चित्पन् यत्सरेत् , ।  
 तन्निक्षेपगता समेऽपि विधयो नम्या गता अहति ॥१२॥

तत्प्रात प्रणमामि शुद्धमनसा श्रीअर्हता सङ्गता,  
 निक्षेपस्य चतुष्टयी महपद यन्नाममात्र पुरा ।  
 श्रुत्वा धममत्रापतु सुरनरो दृष्ट्वाऽऽकृतिं म्लेच्छसू-  
 राद्रा द्रव्यजिनस्य भक्तिपरम किं नो मुकुन्द पुरा ॥१३॥

गर्भावतारममयात्त्रिविधोऽस्मि गीतो,  
 यस्दैकजन्म विधिना जिननामग्रन्धी ।  
 प्रागूजन्मतोऽमुमिचन् भय इत्थमेतद्,  
 मिन्नोऽकृता भय इतीह भयस्तु भावे ॥१४॥

इन्द्रा समग्रा भगवन्तमूचु-गर्भावताराद् न त्रिना तु भावम् ।  
 फल्याणकाना श्रितय पुरैत्र, भवेत् प्रभूणा निखिलप्रबोधान् ॥१५॥

आहन्यमुक्त श्रुतदेशनाया, तथैव पूनाऽन्तिपत्तादिशिक्षा ।  
 स्वोत्प्रेक्षितो लाम इहोदितस्त-पेक्षया भाव उन्तरतीर्थ ॥१६॥

तदेतच्चतुष्कं जिनानां नदन् यः , स नित्यं भवेद्धन्यमानी सुजैनः ।  
न धार्यो न नम्यो न जायो न पूज्यो, भवेत्तस्य देवोऽपरः कर्मक्रीटः ॥१७॥

दर्शनशुद्धिकृते करोति सततं तीर्थेश्वराणां महान् ,  
संसारोत्तरणैकसाधकतमं तीर्थं तदीयं परम् ।  
भ्रान्तोऽयं भववारिधौ जनिमृतीः कुर्वन्ननन्तान् भवान् ,  
यत्तान् प्राप्य तदीयतीर्थमसमं स्यात्पारगः सेवनात् ॥१८॥

यथा यथा गुणोन्नतान् सुसेवया भजत्ययं.  
जिनोस्तदात्मसंश्रितान् गुणान् विचिन्त्य मानसे ।  
तदेव पूर्वकारणं तथा तथोच्चचे यदा—  
यदाऽऽत्मचिन्तया भवेत् क्षयस्तु तद्विरोधिनाम् ॥१९॥

यथाभिधानस्य महान्त आद्या, गुणाः स्मृतेः सिद्धमिदं जगत्याम् ।  
एकस्य [चत्] तद्युक्तपदार्थजातेः स्मृतिः स्मृतेः कारकतापदं गता ॥२०॥

अर्थेऽसौ भवति प्रतीतविषये कोशान्न सर्वो विदन् ,  
सिद्धायां तु जने भवेत् स्फुटमतेः सत्यां प्रतीतौ गुणाः ।  
चित्ते तत्र गता यदीह निपुणाः किं नाकृतिस्था गुणाः ,  
स्मर्तव्या हि भवन्ति चेदवयवे निश्शेषशुद्धे किमु ॥२१॥  
सर्वैस्तज्जिनविम्बसन्ततिगता देवासुरैर्मानुषैः ,  
स्तुत्यर्चामुखसाधना सुविदितैः किन्नाऽऽद्रादादृता ।  
स्पष्टः सर्वजनेषु यत्प्रतिमया सिंहाद्विवोधोऽर्भके,  
तद्वद् द्रष्टुमिहास्ति नैव जिनपे भावाश्रितं शक्यते ॥२२॥

मूर्तिर्जिनानां शमलीनरूपं, मुखेन वक्ति प्रशमं दृशा तु ।  
अङ्कोऽङ्गनासङ्गविरक्तचित्त—माख्याति युग्मं करयोररागम् ॥२३॥

नासात्मेत जिनदृष्टियुग्म, दृष्टिश्च कोपादिप्रमुत्तसद्भा ।  
 चिद् च किञ्चिन्नहि विम्बमात्रे, रागम्य रोपम्य च लेगतोऽपि ॥२४॥  
 तद् दृष्टमेतद् भविसार्थगाना, न्यनक्ति साक्षाद्भतरागता विभो ।  
 न ह्ययतीर्थ्या जिनराजमुद्रा-मुपेतुमर्हा शिवदा कथ ते ? ॥२५॥  
 मिद्वन रूपेण तदात्मजेन, यथा तथाऽर्हत्प्रतिमा नु युक्ता ।  
 साध्य तदेनास्ति सुदेनभाजा, स्वान्शरूपानुगता तत सा ॥२६॥  
 यथा यथा ता प्रतिमामनङ्का, जिनेश्वराणा निजभावरूपाम् ।  
 तथा तथा तस्य गुणप्रवृद्धि, पश्येदतस्ता मुहुरात्मरूपाम् ॥२७॥  
 नामाऽऽकृत्योर्शनात् तीर्थराजा, भव्याना स्यात् सद्गणाना त्वमीषाम् ।  
 भक्त्या युक्तं ज्ञानमात्रयुक्तं स्यात्, घृद्ध तस्माज्जिनजनिमुखस्थान  
 दृष्टेर्यदेतद् । घृत्तेनैषा शुभगुणजननेनाश्रित सपथाऽस्ति ॥२८॥  
 यत्रेतिहासोऽप्रचनुमता कुले, गुणप्रदीप्ति तनुते ह्यनूनाम् ।  
 यथाऽप्रजाना प्रसवादिधाम द्वय तदतत रत्नलु तीर्थदृष्टौ ॥२९॥

पाश्चात्याना वृषममिलपता दर्शनस्यामशुद्धि,  
 र्तुं दशा श्रमणपतिगिरा श्रावका सत्प्रभारा ।  
 तीर्थान्यन्याधिकृतसुरकृतीन्यथपूरज्ययेन  
 चक्रुस्तेभ्यो भवशतनिचित पापपुञ्ज प्रयाति ॥३०॥

सूत्रे प्रोक्तं श्रुतधरणचणोऽनेकदेशेषु गच्छन्,  
 लघाऽऽगाढ (दर्शन) जिनजनिमुखत पात्रनाम्नीथपर्यान् ।  
 दश दश जिनगुणगण धारयन् भूतपूर्व,  
 य स्यात् साधुद्वेतररुचियुक् सरिपट्टे स योग्य ॥३१॥



श्राद्धैस्तस्माद्विमलमतिभिः प्रोञ्ज्य संमारजालं,  
 तत्तत्तीर्थान्यमलविधिना सेवनीयानि शुद्धैः ।  
 सम्यक्त्वम्येतरगुणसहितम्याप्तिशुद्धी दधानः  
 युक्तः सर्वैः स्वजननिचयैर्वृद्धिकृच्छ्रासनम्य ॥३२॥

निर्दिष्टा श्रीप्रवचनपट्टमिस्तीर्थसेवैव वर्या-  
 ऽऽकल्पः सद्दृग्धरणनिपुणमतेस्तत्र यत्कामितानि ।  
 स्थेमोद्भावौ प्रवचनपट्टता भक्तिरार्हन्त्ययुक्ते,  
 स्युस्तत्कामं सुकृतसमुद्ग्या सेवते तीर्थधाम ॥३३॥

उदयमेनमुदीक्ष्य मनीषिभिर्नवकृतेः सुधिचा फलमीरितम् ।  
 बहुगुणं जिनचैत्यसमुद्गतौ, प्रयतते यदि तत्र वृषोद्दुरः ॥३४॥

तीर्थानि तत्र विविधानि पुराकृतानि,  
 म्युर्दीर्घकालललितानि समुद्गतानि ।  
 हेतुः फलस्य भवतीह समुद्गतिः सा,  
 सम्यग् दृशो य इह प्रेत्य सुखाप्तियत्नाः  
 ( प्रध्वरमार्गलम्भाः ) ॥३५॥

यथैवाऽर्हतां भक्तिरत्यन्तभद्रा, भविष्यद्जनतानां समुद्धारिका यत् ।  
 तथैवाऽऽत्मधाम्न्यर्घयुक्ता यतः सा,  
 सदा पुत्रपौत्रादिहितोद्दुरा स्यात् ॥३६॥

बालानां सरणिर्विचारविमुखाऽन्यानुश्रितां तु क्रियां,  
 कुर्युस्तद्यदि धर्मकर्मणि रतं विम्वार्चने तत्परम् ।

पश्येयु स्वप्न, तत स्वयमपि तत्रोत्पन्ना स्युरर,  
 तच्चैत्य गृह्णेशभाग उदित कुम्भं बुद्बुम्ब धरेत् ।  
 ( निलये त्थत्त म्वजनग धर्मप्रचार ण्णी ) - ॥३७॥

जनाना सार्थाऽय निजनगरगाना समभुवा,  
 स्थितिं वृद्धिं रक्षा यन् च मनुते कर्तुमसमाम् ।  
 तदैकस्मिन् स्थाने मिलति ननतोद्धृतिपर ,  
 तथा जैन मार्गाऽन्यतृत्तमतिश्चैत्यमयति ।  
 ( तदर्थं चैत्य किं न भवति भविना सुकृतिगतम् ) ॥३८॥

अधिष्ठात्रा शून्य भवति भवन नैत्र रतिद,  
 सत्ता सेत्र्यो नाहजिनपनिचितेरस्मि मनुच । ॥ ३९ ॥  
 तत स्थाप्यो भवै स्वजनवृपवृतेऽस्मिन् जिनपति-  
 स्ततश्चार्चा नित्य तनुत त्पमाया पद्मिताम्, ॥३९॥

आरूपोऽद्यतन मुरायति नृणा यद्वत्त जीर्णसाथा,  
 तद्वच्चैत्यमनूतन तत इहोद्धार प्रतिष्ठापत्म् ।  
 श्राद्धश्चतसि तद्विचित्य नियत चत्य नवीनोपम,  
 धाम्नि ग्रामतले च शास्त्रविधिना कर्तुं भवेदुत्त ॥४०॥

नैत्रोपकार यजने जिनाना, यतो हि ते रागरूपादिशून्या ।  
 कनुन्तथाप्येष यत्रा प्रयुक्ते, ज्वरान्तिरोगप्रशमाय रत्ने ॥४१॥

वत्रोऽङ्घ्रिना पापभरैकहेतु-ने त विना नाचनमहदादे ।  
 एकाश्रजीरोद्धनने घृणा चेत्, मित्रिर्गृह नेतरथा विमोह ॥४२॥

तन्वङ्गनाऽऽलयमुखार्थमनन्तकायान् ,

द्राग् हिंसतां मनसि यस्य न कापि शङ्का ।

सैषां व्यथा यतनया ह्यपराङ्गिनां स्या-

न्मिथ्यात्वमोहजनितं कुमतोत्थमंहः ॥४३॥

नरेन्द्रदेवेन्द्रसमूहसत्कृता-मर्चा जिनार्चामधिकृत्य सिद्धाम् ।

विलोप्य संसारसमुद्रगानां, करोति भक्तिं स कथं विवेकी ? ॥४४॥

जिने वर्तमाने चिदानन्दपूर्णं, कृता देशनाभूमिकार्ये सुरेशैः ।

जनौ निष्क्रमे मोक्षसिद्धौ च या तां, सुभक्ति विलुप्याघभारै-

र्भमी च ( भवे ) ॥४५॥

त्रिधा षड्ब्रधाऽर्चा पुनश्चाष्टभेदा, दशान्वितैः सप्तभिश्चार्हतां या ।

श्रुतोक्तिप्रपञ्चैः प्रबोढा विलोप्य, गतिं तां च गन्ता दुरावापधर्माम् ॥४६॥

त्रिसन्ध्यं जिनानां विधायार्चनं यः, स्तवैरुत्तमैः संस्तवं चापि कुर्यात् ।

सुसौख्यानि देवस्य चिन्तातिगानि, स लब्ध्वा शिवं-

शीघ्रमाप्नोत्यवश्यम् ॥४७॥

कृतं सत्फल तेन जन्म स्वकीयं, नरेणार्हतां भक्तिकृत्येन वंशे ।

समारोपितः कल्पवृक्षोऽनुजानां, सदा स्वर्गमोक्षैकफलप्रदायी ॥४८॥

यद्यपि पूजा फलविधये स्यात्, पौद्गलजाले धनकनकाद्यैः ।

तत्तृणमात्रं शिवफलसिद्धे-स्तस्याद्विवुधजनस्तन्मात्रः ( द्वाञ्छः ) ॥४९॥

जैनोऽसावार्हतानां प्रवरगुणगणं क्षेत्रमेतच्छूयेत,

मूलं यत्सद्गुरुणां प्रवरगुणभृतां धर्मकार्यस्य वर्यम् ।

कल्पातीत फल यद् भवति नरगणे तन्निग्न जिनार्चा,  
ध्यावेति शास्त्राचाऽनुगतमतिवृत्ति साधयेच्छ्रीजिनार्चाम् ॥५०॥

इति चतुर्विंशोऽध्याय ।

। पञ्चविंशोऽध्याय । ( चैत्याधिकार )

स म्याज्जैनत्वधारी जिनपतिचरणप्लावित चैत्यमाढय,  
प्राप्ते वा पत्तने वा यदि भवति तदा वासमादातुमिच्छेत् ।  
निष्काणा चेच्छत सद्धरति निजप्रश कारयेद्वासधाम्नि,  
चैत्य नृत्त यत स्यादविरलगुणभृत्पुत्रपौत्रान्विश ॥१॥

जिनेश्वराणा महनेन भावो, यथा विना भ्राद्वृषोद्धहानाम् ।  
तथादिवर्मश्रयणान्विताना, भावाय चैत्य मुकृतोद्धहाय ॥२॥

यशानुप्रशागतसज्जनाना, गृहस्थिताह्निलयेक्षणेन ।  
प्ति दिन स्याज्जिनधमबुद्धे-दूषव शुद्धक्षितिरोपिता या ॥३॥

निजाप्रजाना परिमाननीय , स्मार्यश्च जाप्यश्च निपेयणीय ।  
को मङ्गलार्थं परिपूनीयो, द्वेषोऽभयत्स्मरमिद्वचैत्याम् ॥४॥

जिनोपदेश विनिशम्य दृधा, येनाऽऽगमास्तीर्थविनोधनाय ।  
गणेशिता सोऽर्हदुत्तरचैत्य-तर्ति पुरस्था परिकीर्तयेद्वि ॥५॥

जगत्यग्निन् सत्र नगरधरनिगमग्रामसदृश,  
जनाना भूपाना तिवसनजनितगौण्यमहिम ।

क्षणाद् दृष्टं नष्टं जनपदजननाशेन निवृतं,  
तथापीक्षन्ते ज्ञाः पुरवरपरिगतैश्चत्यकृतिभिः ॥६॥

पुराणामुद्वसानां प्रकीर्णैर्युतानां, मतानां नृपाणां विनाशं गतानाम् ।  
विवोधो बुधानां तदारम्भणैः स्यात् सुचैत्यानि दृष्ट्वा तथैवाप्तराजेः ॥७॥

दृष्ट्वा मूर्तिं वीतरागप्रभूणां, स्याद्वै बोधो दृष्टुरात्तस्य शुद्धः ।  
दृष्टे चैत्ये चित्रकीर्णे तदीया, बोध्याऽवस्था प्राक्तनी चित्तचोक्षा ॥८॥

यथा साध्यसिद्धिर्विना साधनं नो, तथा साधुतां शुद्धधर्मोद्यमाङ्गाम् ।  
विना वीतरागस्तदेतद्विधानं, सुचित्राङ्किते चारुचैत्ये समानम् ॥९॥

भाषा या लिपिसंश्रिता न नियता कालेन देशेन च,  
प्राप्ताऽनेकश उच्छिद्यं बुधमता चित्रं तु पापाणवत् ।  
प्रेक्षन्ते समकालगा बुधजडा गच्छन्ति सत्यं पथं,  
तस्मादाचरितव्यमेतदमलैश्चित्रैर्युते चैत्यके (मन्दिरे) ॥१०॥

घनरिक्थयुतैर्वरवुद्धिधनै—जिनवाङ्मयविद्धशुचिश्रवणे—  
र्धननित्यसदागममानधरैः ; श्रमणादिसुसङ्घघनिष्ठमतैः ।  
शुभसन्मतिधारकसन्धिजनै—जनसार्थगताऽऽदृतिशुद्धरवै—  
रमणीयतरं वरचित्रयुतं चिरचैत्यमुदार ( दीर्ण )  
मतैः क्रियते ॥११॥

तदा सन्मान्यं तद्यदि च विधिना वृद्धरुचिरं,  
मनोज्ञं चैत्यं चेत् परित उदिताचारततिवृतम् ।  
न चास्थाने सन्तो विहितविविधाचाररतयो,  
गतिस्थानं शंसां विदधत उदर्या यत उमा ॥१२॥

रक्षाधूलीपीकमानौ प्रिशल्ये, तच्चैत्य नो दीर्घकालीनशोभम् ।  
शत्रुत्व नो चेद्वरेयुमतीना, मान्य नित्य तन्नरै मयत्ता म्यात् ॥१३॥

सन्तोष्या शुचिभारवो मतिधनैर्यत्ते क्रियासुखर,  
चैत्य सुन्दरचित्रराजिकलित धर्मप्रद देहिनाम् ।  
कार्याणा रमणीयतामलमिमे क्षुयु प्रसन्नातरा,  
यद्देहेन कृतिभवेद्व्यभूचेष्टानुगा नान्यथा ॥१४॥

विम्ब यद्यपि शोभन जिनपते कामप्रसक्त्याऽभय-  
न्तैराह्लात्पर भयवन्ति पर चत्ये मुचित्रान्विते ।  
सच्छाद्व प्रणिधीयते न त्रिगुणानन्तप्रते मत्स्थले,  
नो ष्टि प्रतिमहरद्विधियश साप्रात्समालोकनात् ॥१५॥

चैत्येऽधिप्रियते जिनस्मन्नुगा चैत्ये क्रिया चित्रणे,  
नो चेद्दाम्बर भवेन्न न्य तुष्ट भवेत् प्रेक्षिणाम् ।  
तत्तत्कारणयोगिनो जिनपतेरात्रित्य तिस्रो दशा-  
स्तोष्टयास्तनुप्रितै प्रकरणे संयेऽपि सत्कारर ॥१६॥

विम्ब रत्नसुवणरानतकृत नास्माद्विशिष्टा नृणा,  
चित्ते गान्तिरनुत्तरा भवति तु सौन्दर्यसत्त्वान्वयान् ।  
तत्तत्कारव उत्तमेन धनिनाऽङ्गाकारसिद्धय ध्रुव,  
सत्कार्यास्त्रिशागतै प्रकरणे स्याद्विम्बशुद्धिर्यथा ॥१७॥

यथा नृपाणा प्रथया प्रमोता-द्राज्याभिपदे त्रिप्रिधक्रियामि ।  
कृते सत्ताऽऽऽम्बरराजितामी-राष्ट्र महत्त्व यचनातिग स्यात् ॥१८॥

तथाऽर्हतां रम्यतराणि विम्व्रा-न्यगोपकारुक्रियया कृतानि ।  
विना प्रतिष्ठाविधिमार्हतानां, पूजाऽऽस्पदत्वं न हि जातु यान्ति ॥१९॥

चित्रैः सुरम्ये विहितेऽथ चैत्ये, दशाहमध्ये क्रियते प्रतिष्ठा ।  
प्रधोर्न चैत्तद्भवन्न मनोज्ञं, रक्षोऽधर्मैः शीघ्रमधिष्ठीयेत् ॥२०॥

अर्हच्चैत्यप्रतिष्ठासमयमनुसृतं वस्त्रशृङ्गारकार्यं,  
नाट्यं धर्माङ्कवद्वं विविधवधयुतेऽमारिघातो निकेते ।  
सन्मानः सर्ववर्गे विविधगुणधरे श्रावकाद्यर्हसङ्घे,  
कार्यो यत्तं निधायाऽव्ययपदगमनं धर्मप्राप्त्यै विशेषात् ॥२१॥

उक्तं यच्छास्त्रकारैः परिणतिवशतो ह्याश्रवा निर्जराङ्गं,  
तत्सत्यं यज्जिनेन्द्रो भवमुखमहसां पापबन्धो विधाने ।  
तद्वत्कार्ये जिनानां प्रतिकृतिमहने विद्यतेऽङ्गक्रियायां,  
स षः सर्वोऽत्र तस्माद्विधिवदनुसरेन् सर्वशोभावहत्वम् ॥२२॥

विधौ प्रतिष्ठाकृतिसंश्रितेऽत्र, कृते जिनानां महिमाऽष्टघसान् ।  
विशेषतः श्राद्धवरैर्विधेयो. यथा मुदायै जिनविम्वचैत्ये ॥२३॥

चैत्यं विहितं विग्वैर्युक्तं, सङ्घप्रहितां पूजां प्राप्तम् ।  
नार्थं निजके धार्य सङ्घे, व्याख्या मुनिभिः कार्या सूक्ता ॥२४॥

भक्त्या अत्रागत्याऽनङ्गां, दृष्ट्वा मूर्तिं धर्माऽऽरामाम् ।  
बोधं यान्तु प्राप्तानन्दाः, शीघ्रं यान्तु मुक्तिं रम्याम् ॥२५॥

नैवात्र शङ्कयेममलप्रतिबोधसारै-  
नैवेदमाप्तविहितं करणीयमार्गं ।

शल्यादिसाम्यमुदित रवणान्सिद्धे,  
शास्त्रेषु नैव जिनविम्बगृहादिनायै ॥२६॥

न्ते मुनिभ्योऽशनपानखाद्य-स्वाद्यानि यो हि बधमादि कृत्वा ।  
तत्रापि चेच्छास्त्रकारैः प्रभूता, सन्निजरा तर्हि विमोहन कथम् ॥२७॥

केचिन्मुनीनां स्वप्नाश्रयन्त, पुष्पान्पूजा विहिता गृहस्थैः ।  
पदऽपत्रादस्य मनन्ति, तन्ना-धिकारियोग्यो हि त्रिधिस्तथा न ॥२८॥

निपेथो विधिर्ना मत कर्तृयोग्यो, मुनीशो निपिद्धो गणेशप्रकार्यैः ।  
मुनेर्मागगत्या निपिद्धोऽस्ति पाठो, निपिद्धा स्थिति कल्पिकी  
पात्रपारे ॥२९॥

ऋष्या जिन चैत्यविराजित जना, घञन्ति राग जिनशासनेऽनघे ।  
समूल ण्य क्षयति प्रकाम, द्विष्ट मपक्षे रज्जु नीतिनाह ॥३०॥

जिनाय शान्तिप्रथमाननाय, नत्या निज तद्रन्तितागमाय ।  
भवेत्प्रवृत्तो नर आत्मतायी, प्रकृष्टशत्रो पदमाश्रितो यत् ॥३१॥

एषा नतिर्या जिनराजभानवे, कृता नरैः साऽष्टविधान्धतामसम् ।  
निहन्ति यन्नर हतो दिनेश-प्रभाऽल्सा म्यात्तिमिरायलीनाम् ॥३२॥

पूनामष्टविधा तथाविधमति प्रात स्वमीये गृहे,  
चैत्य याति मनोहर पुरगत श्रीसदघसत्ता श्रिते ।  
प्रन्यारयानपरो विधाय गुण्णामाचारचर्यां वर्गं,  
मध्याह्ने प्रतिलम्भ्य साधुनिचय जिनोऽशन सादति ॥३३॥



सन्ध्यायां गुरुसाक्षिकीं विधियुतामावश्यकीं सत्क्रियां,  
 ग्लानत्वादिदशाश्रिते वरगुरौ विश्रामणामाचरन् ।  
 स्वाध्यायं परमं विधाय जिनराट् चैत्येऽर्चनां सम्मदान् ,  
 कृत्वाऽऽयाति निकेतनं शुचितनुः ( स्मृतिधरो ) जैना  
 नयेद्यामिनीम् ॥३४॥

जैनश्चेत् प्रवलाघसन्ततिभरात् क्षीणेऽथ रिक्थेऽथवा,  
 हेतौ वा समुपस्थितेऽपरतमे देशान्तरं गच्छति ।  
 जानीते स्वकमन्तराद्यमुदितं लाभादिघातोद्यत,  
 क्षीणं नैव भवेत्तकद्यदि परं, लाभो महान् धर्मगः ॥३५॥

जैनो देशान्तराणि व्रजति यदि तदा चैत्ययुक्तं निवासं,  
 गत्वावश्यं सुचैत्यं मुनिगणसहितं याति नत्वाऽन्यथा न ।  
 पश्चात् संसक्तिरेभिर्भवति यदि परं स्मारयेद्वन्दनं तत् ,  
 स्यादेवं जैनमार्गं मिलितविमलहृद्धारकः शासनस्य ॥३६॥

श्राद्धो भवेज्जिनवरार्चनवृद्धिपूरो, नैतच्च चैत्यजिनविम्बयुगं विहाय ।  
 तच्छ्रान्द्धधर्ममतयः प्रतिपाटक हि, कुर्युगत्वदो जिनमतेऽतितरां  
 हि रक्ताः ॥३७॥

एवं विवुध्य विवुधैर्जिनरिक्थमैतत्, सङ्घाय दिष्टममलाय शिवोद्यताय ।  
 तद्वर्धनावनविनाशफलं प्रदर्श्य, त्रैधं गृहेऽर्चनविधौ सकले च योगि ॥३८॥

यो वर्धयेज्जिनधनं प्रवरोपयोगं, श्रीजैनशासनगतोन्नतिसूत्रधारम् ।  
 सज्ज्ञानदर्शनचरित्रविकाशधुर्यं, प्राप्नोत्यसौ जिनपदं प्रथितं  
 पृथिव्याम् ॥३९॥

द्रव्यं जिनम्य न भवेदपरिग्रहस्य, भक्त्ये गृहीतममलेन हृदा जिनम्य ।  
 धृद्धौ जिनेश्वरजनोन्नतिकेऽस्य भावी, सञ्छासनम्य भुवि वर्तयिता  
 न चित्रम् ॥४०॥

चैत्यं विम्बं जिनम्य प्रभप्रति सकले सम्भेदं हिताय,  
 बाला धृद्धा युवान सुदृढमतिधरा म्नीययोपाभिरक्ता ।  
 जाला वशेन देशे प्रचुरनिचयिनोऽप्राथधामामिलापा ,  
 लाभोपेल्भन्ते जिनपतिपठितं सुस्थितं तद्धि दृष्ट्वा ॥४१॥

तत्सर्वं रभ्यताया जिन-जिनगृहयो सुस्थितत्पोद्गवाया,  
 सा स्यात्तद् द्रव्यसिद्धेरिति सुकृतभरा वर्धने बद्धकथा ।  
 न्यायेनाऽऽरम्भशून्या गतप्रिययथा धर्ममात्राथयाऽर्था ,  
 सर्वा मुक्तिकाङ्क्षा जिनपद्मतुल नाद्भुतं यद्भरन्ति ॥४२॥

ये सत्त्वा नहि तादृशं धनत्रयं युक्तिप्रयोगं कृत्वा,  
 बुध्यन्ते प्रत्रयं च नो कथमपि धृद्धे परं कारणम् ।  
 दवस्वस्य तदा नरान्मन्त्रने स्युः सोद्यमा मुक्तये,  
 सत्रपामुपकारकस्य विधिना मुक्तिं लभेरन् लघु ॥४३॥

ये तु प्रोत्कटमोहराजजनितप्रात्रल्यभानो नरा,  
 मिथ्यात्वाऽऽधुलचेतमो जिनधनं तान्क् प्रभावावितम् ।  
 नो धृद्धिं न च रक्षणं प्रतिपन् नेतुं प्रपृच्छाऽऽनरा ,  
 भश्यन्ति प्रमत्ता परीक्ष्य निहते नो चारितुं सादरा ॥४४॥

ते धर्मस्य त्रिवधनं स्थितियुतं निर्णायन्तीतरे,  
 तं मोहं समुपाज्यं दुर्धरतरं प्राप्स्यन्ति दुःखान्विता ।

संसारेऽधमवृत्तयो नरकगा दुःखेन बोधि परे,

जन्मन्यासुरभावनोद्यतहृदो नैव शिवश्रीश्रयः ॥४५॥ युग्मम्

श्रुत्वा फलं जिनपतिद्रविणे प्रवृद्धे, रक्षागतं न मनुजाः शुभवोधग्न्याः ।  
पूजादिकार्यविधिषु द्रविणं व्ययन्ते, ये तेऽपि नैव विधिमार्गपराः समेषु ।

चैत्येषु विम्बसहितेषु यथार्हमाधाः (मर्ष्यम्) ॥४६॥

देशप्रदेशेषु परापरेषु, विम्बानि चैत्यानि पुरातनानि ।

दर्श दर्श भव्यजीवा अनेके-ऽवापुर्वोधिं तद्भृतश्च स्थिरत्वम् ॥४७॥

प्रमादतोऽकारि सुसंयतेना-ऽकृत्यं कदाचिन्न च तत्परेभ्यः ।

गीतार्थसंविग्नमुनिभ्य आशु, निवेद्य शोध्यं परतोऽपि जातु ॥४८॥

ततः प्रत्नै चैत्ये भवति जिनपतेर्या प्रतिकृति-

स्तदग्रे शास्त्रेषु स्वयमपि समालोचयति सः ।

गीतार्थः शोधीनां सकलशुचिकरान् वेत्ति सुविधीन्,

अकृत्यं निर्मायं शुचितरमनाः शुध्यति ततः ॥४९॥

पुराणानामैवं जिनपतिगृहाणां प्रतिमया,

जिनस्याह्यानां द्राग महिमप्रततिं वीक्ष्य सुधियः ।

सदा कुर्युस्तूत्यां निरघमतमुदा पालनयुता,

लभन्ते ते प्रेत्याशुभमतततिं पापपदिकां ।

निहत्याऽर्हच्छास्त्रप्रथितमहिमानं शुचिपदम् । इति वा ॥५०॥

भवेद् जैनोऽसौ यः प्रतिनियतसामर्थ्यसहितो,

विधेयाच्चैत्यानां विविधघटनां विन्वसजुषाम् ।

म्वय ससाराधेस्तरणनिपुणस्तरयति वै,  
गता धर्माराम न भवति विदुषा स्वान्यत्रिभिन् ॥११॥

इति पञ्चविंशोऽध्याय ॥

। पङ्क्तिशोऽध्याय । ( ज्ञानाधिकार )

जैनोऽसौ नियत तनोति मतिमान् यो ज्ञानकार्यं सदा,  
जैन यद् भुवि शासन विजयते हत्वान्यतीवप्रभाम् ।  
सोऽनर्था महिमा प्रचण्डतरको ज्ञानप्रभाजोत्थित ,  
प्राप्तेष्वन्धनरेषु यद्बहुतरेष्वीश्राधर श्लाघ्यते ॥१॥

ज्ञानेन जात भुवि जैनतीर्थं, ज्ञानेन तत्स्थापितमर्हता पुन ।  
ज्ञानप्रवृत्तिं भुवि जायमाना-मपेक्ष्य तीर्थं जगतीह वर्तते ॥२॥

ज्ञानस्यैष मह परात्परतरो, जागर्त्यनृन पर-  
स्तीर्थेशा परिपत्सु यन्मृतधराच्छद्मस्थभाजान्विता ।  
गच्छेशा श्रुतकेवला निखिलविद्वृन्दात् पुर स्थानगा-  
स्तानादौ च नमस्करोति निखिल शेष सभासज्जन ॥३॥

मुनीश्वराणा गणानायकत्वे, स्थाप्ये मता या निखिला गुणालि ।  
सर्वाऽपि सा युक्ततमाऽपयाँ , पर श्रुताऽऽगरगुणे त्वसी न ॥४॥

त्रियाविर्हीनेऽपि मुनी जनाना, मिथ्यात्वभाजो न तथाकृतिश्चन ।  
गीतार्थताया सुमुनी ( च ) तद्बद्, भवेत्य चेत्तवारको न ॥५॥

गीतार्थनिश्रामभिहृत्य ये स्युः , क्रियापराः संयमिनः प्रभूताः ।  
तेष्वंश एकोऽपि न संयमस्य, ज्ञात्वेदमार्यः श्रुतसाधनो भवेत् ॥६॥

भेदाः पञ्च ख्यातिमन्तो बुधेषु, ज्ञाने गीताः शास्त्रकारैर्हिताय ।  
मत्याद्यास्तु व्याहृतिस्तस्य शास्त्रे, कालाद्येषु गीयते शास्त्रनिष्ठा ॥७॥

जैनैः पर्व राध्यते ज्ञानसत्कं, पञ्चम्यां वै शुक्लपक्षोपगयाम् ।  
तत्र स्थाप्यं शास्त्रवृन्दं पुरस्तात्, तस्याग्रे श्रीसङ्घ आप्नोति धाम ॥८॥

वर्षाऋतौ स्याद्वरपुस्तकाना-मार्द्रत्व तद्धेतु विकृत्यनादि ।  
तत्सारणादावधिकः प्रभावो, मत्वा श्रुताराधनमिष्यतेऽत्र ॥९॥

तदाश्रया कार्तिकपञ्चमीयं, मता जिनेशानुगतैः संमस्तैः ।  
पर्यायभेदेन मता ततोऽसौ, सौभाग्ययुक्ता श्रुतपञ्चमी वा ॥१०॥

चिरन्तनानां यतिनां न काचित्, पुस्ताद्यपेक्षा स्मृतिपाटवानाम् ।  
तथापि तत्रामलशास्त्रपद्धति - गीतार्थताहीनजनोपयोगिनी ॥११॥

देवेन्द्रयुक्ताद्गणिनः पुरस्तादा-ऽऽसन्मुनीनां वचनानि मानम् ।  
परं परस्तात् स्मृतितानवानां, पुस्तानि सर्वेभ्य उद्गारमानम् ॥१२॥

ततोऽधुना नैव वचांसि मानं, न विभ्रतीष्टं शुचिपुस्तकानि ।  
महामुनीनां गुणगह्वराणां, नासम्भवी यत्स्मृतिलोप उग्रः ॥१३॥

प्रवक्तुमेतद् यदि नोचितं न, प्रवच्मिनिःशेषमिदं हि शासनम् ।  
लेखान् सुपुस्तप्रथितान् विहाया-परेण नैव धियते कथञ्चित् ॥१४॥

यदा स्मृतीहाधरेणादिर्मेधा-प्राचुर्ययुक्ता मुनयः प्रशस्ताः ।  
तेषां तदा पुस्तकसङ्ग्रहस्य, परिग्रहः कारणमेव नान्यत् ॥१५॥

मेधा यदा हीनतरा मुनीना, कोशाय निर्युक्तिमुत्प्रहोऽभूत् ।  
हानिर्यथा तत्र जभूत् भूरि-स्तथा ममप्रम्य यभूत् सङ्ग्रह ॥६॥

यथा ह्यचेत्त्वश्रमे हि यत्र, परिग्रहं स्यान्मुनितापदाङ्गस ।  
परेषु यत्सयमसाध्यता स्यात्, तेषां ग्रहाञ्चीवरभाजनादे ॥७॥

अतोऽधुना पुस्तकमङ्ग्रहो य, स एव त्रोध जनयत्यनृणम् ।  
धरति चेत्तानि न पुस्तकानि, हास्यान्मिक्ता मुनयो  
भ(वेयु) वन्ति ॥८॥

ततोऽधुना ज्ञानगुणेषुना मदा, काय द्वयं ज्ञानपदाहणायाम् ।  
आराधना ज्ञानपदस्य जाप-ध्यानादिभिः पञ्चपदानि लभ्या ॥९॥

अन्त्य मुनीभ्योऽमलपुस्तकानां, विलसनामर्चनमारचय्य ।  
समर्पणं वाचनमन्ययुक्ति-द्वयोपकाराय सत्प्रयोज्या ॥१०॥

न त्र्यन शास्त्रविहीनमार्गं शास्त्राणि सर्वाणि समाश्रितानि ।  
सुपुस्तकालिं गणिना धरेण, ज्ञातुं स्वकान्यानि निदेशनानि ॥११॥

धार्याणि निःशेषमताश्रितानि, तत्कालकालान्तरपुस्तकानि ।  
गणी भवेत्त्रेतरा म्वकान्य-मतोऽग्रहे शक्तिधर प्रकाशम् ॥१२॥ युग्मम्

यावत्तीक्ष्णं निनम्य प्रचलति भुवनं तावदपोऽपि सङ्घो,  
'यावत्तथाऽसौ' तनेषु प्रकटतिमिरहा तावत्सङ्घोऽप्युत्तानाम् ।  
तत्त्वानां सप्तकम्यानयमप्यधृतिप्राप्तिहेतुत्वमाप्य,  
तानि म्यु पुस्तकानां निचयमनुमनान्यचनीयानि भवे ॥१३॥

अन्याऽऽवर्तप्रमिते (माणे) भवगतिगमने शेष आप्नोति मार्गं,  
भव्यो जीवः प्रभावात् सुकृतनियतितो जातकालात् प्रधानात् ।  
तत्रानाभोगवान् सन् प्रचरति जिनपोद्भाविते यद्वदन्धो,  
सद्भाग्यो भव्यजीवश्चरति गतपथो सार्वदेशितमार्गं ॥२४॥

तद्वज्जीवोऽपि मार्गे यदि व्रजति पथि ज्ञानहीनस्तदापि,  
देवाद्यर्चादिवत्सोऽनुगतविमलभा लेखयेत् पुस्तकानि ।  
अभ्यर्च्यार्शेषशिष्टद्विणनिचयतः सद्गुरुभ्यः समर्प्य,  
सत्याप्य श्रोतृकार्यं गुरुवचनसुधापानमादत्त उच्चैः ॥२५॥

देवो गुरुधर्मवरश्च बोध्या-न्येषां समासाद्य ऋतां प्रमाणाम् ।  
व्याख्यात्रधीनानि यथा श्रुतानि, विशेषतोऽमूनि तथाङ्कितानि ॥२६॥  
तथापि बाहुल्यमनेहसीय-प्रभावतो बुद्धिधनस्य विस्मृतेः ।  
कुवादिनां कल्पितपाठवादिनां, विलोपकानां च न विद्यतेऽन्तः ॥२७॥  
एतादृशेऽनेहसि मार्गरक्ताः, कथं श्रयेयुः शिवशुद्धमार्गे ।  
अतो विसंवादहरानऽभिन्न-रूपान् सुपुस्तान् भविनोऽर्चयन्तु  
त्रिभिर्विशेषकम् ॥२९॥

निशम्य पैशाचिकवृत्तमार्त-स्नुषाकथां च व्रतिनः स्वशुद्धयै ।  
क्रियातिरिक्ते समये विदध्युः, स्वाध्याय एषोऽपि सुपुस्तकाश्रितः ॥२९॥  
एवं च ये स्युः सततं समुद्यताः, स्वाध्याययुक्ते वरधर्मचित्ते ।  
सुपुस्तकानां धरणे प्रवीणा, ध्यानेऽन्यथा बाध उदियात् प्रचण्डः ॥३०॥

तीर्थाधारतया सुपुस्तनिचयस्तेनैव मल्लप्रभो-  
र्देव्यानीत उपाय आगमविधौ पुस्तस्य वर्षावधिः ।

मिद्धेपे प्रतिशोधनाय गुरुणा रक्तस्य बोद्धे मते,  
 न्यस्ता सुदरपुस्तिकाऽस्य प्रिमले जैनेन्द्रधर्मे मति ।  
 पूज्य-श्रीहरिभद्रमूरिरचिताऽस्याऽऽलोकनेऽजायत ॥३१॥

त्रिधोन्विता जिनागमा अनन्तर-परम्परा-  
 ऽऽन्मस्वरूपभेदत पुनर्द्विधाऽर्धमूत्रत ।  
 द्विधाऽपि वततेऽधुना परम्पराभिधानको,  
 जिनेगामने मुने परम्पराविहानित ।  
 सुपुस्तकाश्रितमतत स एव पूज्यतामिह ॥३२॥

मत्स्यैव शासनन्यानुपमाहितकर पुस्तक तत्पुरोगै-  
 र्जके कोणा वृता सत्पुरुषप्रचनत शासनोत्तेजनाय ।  
 नैरे श्राद्धोत्तमास्तु विविधविधियुतान्याचरन्ति प्रकाम,  
 तत्तद्विचियभाशु तप उन्त्यकृते यापने तद्विलेखान् ॥३३॥

यथा निनेशभक्ति बहुप्रकारिकार्चना,  
 जिनेश्वरेषु पूजने तदीयविम्बसहते ।  
 तथा निनेशास्त्रवृन्दभक्तिभारिता जना,  
 मुशास्त्रशोधिनस्तदाश्रयाँश्च पूजयन्ति वै ॥३४॥

अत श्रुते समीरित त्रिधाऽऽवृतेर्विप्रधन,  
 राधनाञ्च शोधि-शोध-तद्रताऽऽसहते ।  
 अथ तु चेत्समीहते प्रकाममात्मकाम्यया,  
 त्रिपूज्यम त्पावृते क्रियान् सुपुस्तकान्वधान् ॥३५॥

चैत्याना नूतनाना वितनुत उदिता मत्क्रिया यद्वनाऽऽया,  
 उद्धार प्राक्तनाना विविधपुरयुजा तन्वते भक्तिनद्या ।



विम्बानां नव्यजीर्णप्रकरणानिपुणा उद्यमं सन्धन्ते,  
सङ्घे जैनेशनस्ये बहुविधविनयं सन्नयन्ते सुधर्माः (बोधाः) ॥३६॥

सर्वोऽप्येव प्रभावो मुनिवरसजुषः सद्ग्रसार्थस्य तीव्रो,  
भेदैर्युक्तश्चतुर्भिः श्रमणमुखगतैः पुस्तकाधारजीवैः ।  
व्याख्यातं सत्क्रियायुक् प्रवितरणचणैः शासनस्तम्भरूपै-  
र्युक्तस्य पुस्तककत्या त्रिकरणविधया संश्रितस्यैव नूनम् ॥३७॥

शास्त्राणां विहिता वरा सुरचना पुस्तेषु विज्ञोत्तमैः,  
सा चेद्बाधमियतिं तर्हि जिनपस्याऽभूत्परं बाधितम् ।  
सर्वं यद्दरति प्रकृष्टमनिशं सर्वत्रगं सद्यशः,  
सूत्राणां मितबाधने परममुष्मिन् धर्मवार्ता वृथा ॥३८॥

ज्ञानं सर्वमतानुगैरभिमतं धर्मादितौ सारभृज्,  
जैना अप्यभिमन्वते परमिदं तत्त्वाशया नो परम् ।  
जैना यच्छिवसाधनं परतरं मन्वन्त उद्धारकं,  
ज्ञान सत्क्रियया युतं न विकल चैकं ह्यपीप्स्यप्रदम् ॥३९॥

रोगी नैव निदानरूपभिषजां रोगस्य बोधाद्भवे-  
दल्पेनापि गदेन मुक्ततनुकश्चेन्नागदानां क्रिया ।  
वार्षेस्तारकतां श्रितोऽपि पटुधीश्चेत्तारणे नोद्यतः,  
पारं नो समियत्यसौ नदनदीष्वेवं क्रियाऽऽवश्यिकी ॥४०॥

युक्तोऽपि क्रियया विचित्रविधया स्तनाकरेष्यागत-  
श्चेन्नासाववबुध्यतेऽत्र पतितं सारं गतार्थं च वा ।

तत्तत्रागतिरस्य मुग्धहसनी सिद्धिर्न काचित्परा-  
प्यथोऽस्य सकलप्रयास इह चाऽज्ञानिक्रियाया सम ॥४१॥

प्रागुक्त श्रुतधारकै श्रुतिपत् य सयत सयत ,  
गत्या स्थान उदाहृतौ शयविधौ बान्यासनेपूद्यत ।  
वध्नात्येष (न) पापमण्वपि यतोऽसौ रक्षक प्राणिना,  
चेत्प्राणान्तमिता परेऽसव इद पापाय नो तादृशे ॥४२॥

एव नो विधितत्परोऽपरमुनि साध्य विहायाऽऽत्मना,  
दुर्यात्ता परमप्रमादसहिता हिंस्रान्न जन्मान्यान् ।  
जात्वेपोऽघत्रितानसञ्चितिकरो रश्माविधौ न यत,  
एव यत्नपर परेऽत्र न मृता स्वायु समर्था यत ॥४३॥

धुनैव च आदृतिप्रचुरताभागाह शिष्य परो,  
नो ज्ञाने शिष्यकाङ्क्षिणा मतिरत कार्या फलेनोज्झिता ।  
आहात्रान्तिपदा सदा हितविधावालम्यलेशोज्झितो,  
यो जीवेतरसार्थमोघरहितो रभोद्यत किं भवेत् ? ॥४४॥

तज्जीवेतरस्तुष्टुन्विपय ज्ञान पर धारयन्,  
पुण्यापुण्यत्रिधानमोघजनित मुक्त्यन्तर्सारय श्रये ।  
तत्प्रथम शिष्यधाममागनिपुणैर्ज्ञान परधेयसे,  
ग्राह्य चज्जिनशासन द्वययुत रयात्यव्ययाप्तिप्रदम् ॥४५॥

श्रीजैनशासनमतेऽत्र नराश्चतुर्धा, ज्ञान तु केवलमुपासतमुज्झितेयम् ।  
हीना त्रिदा पर उगति परा प्रवृत्ति, द्वौ चापरौ गुणत्रिजोपतया द्विक तु,  
नैतपु कत्रन नरो जिनमागमेत ॥४६॥

ज्ञानक्रियोभयगताः पुरुषेषु भङ्गा, यत्ते नरेषु भजनापदतो विभातः ।  
 ज्ञानं लभेत पुरुषः प्रचुराघभेत्ता, बन्धोऽपि जातु नहि ग्रन्थिपरो  
 हि तस्य ॥४७॥

नैति क्रियाकृतिमसौ मतिरस्य तद्गा,  
 तेनायमेति पदमाराधनया प्रभूतम् ।  
 जैनी क्रियां प्रविदधान उपैति मार्गं,  
 योग्यत्वमस्य न तु सको नियमात्तमेति ॥४८॥

भव्येतराः केचिदिमां समेता, न तेऽत्र भव्या अपि मार्गहीनाः ।  
 आराधना तस्य भवेद्धि न्यूना, मार्गेण हीना इति दुष्टताङ्काः ॥४९॥  
 ॥  
 ज्ञानं क्रियां चापि समेत्य युग्मं, सम्यक्त्वचारित्रयुजः पुरुषाः ।  
 मार्गं जिनेशस्य यथास्थितं ते, मोक्षं लघूद्यान्ति विशुद्धभावाः ॥५०॥

जैने कुले ये जनिमादधुस्ते, यावन्न तत्त्वेतरभावविज्ञाः  
 वृद्धानुवृत्त्या क्रियया विदा च, वृतास्तथाप्यत्र न ते प्रमाणम् ॥५१॥

क्रियायुतो ज्ञानषदार्थशून्यो, निवेदितोऽरण्यगतोऽक्षिहीनः ।  
 निर्युक्तिकारैः प्रसभं द्वयोस्तु, समत्वमाश्रित्य युगादराय ॥५२॥

द्वयोः परं साध्यमपेक्ष्य तैर्हि, चारित्रहीनः कथितः खरैः समः ।  
 ज्ञानं तु दीपैस्तुलितं प्रधानं, ज्ञानक्रियाभ्यां सहितोऽर्हपूर्गः ॥५३॥

समस्तकर्मक्षयतो विमुक्तिः, श्रेणिप्रभावात्स भवेन्न सा तु ।  
 कैवल्यहीने शिवसाधनं तद्, ज्ञानं सदा श्रेयमिदं तु भव्यैः ॥५४॥

मार्गास्त्रय सम्मिलिता त्रिमुक्ते , सम्यक्त्वत्रोधत्रतरूपवन्त ।  
सम्यक्त्वलाभात् प्रमृति त्रमोऽत्र, तत्त्वार्थबोधेन विना न निश्चिति ॥५५॥

ज्ञान कुलाचारत एव यम्य, तस्यास्ति साध्यत्वमुत्तरदर्शने ।  
यस्त्वान्धिर्मा स नरो लभेत, ज्ञानाद्धि सम्यक्त्वगुणस्य लाभम् ॥५६॥

जिनेश्वरा यद्यपि गर्भकाला—द्विशिष्टसम्यक्त्वधरा ध्रुव स्यु ।  
ज्ञानत्रय तत्र तथापि शसा, जैनै कृता प्राप्नुत इन्दुसाम्यात् ॥५७॥

परित्यजन्ति तीर्थपा समप्रपापभाजन,

गृह धनाद्गनासुतान्सियुत स्वमोधत ।

तदैव तुर्यमाप्यते समैर्मन सुपर्यय,

न जायतेऽद आत्रितेष्वगारमात्मभावत ॥५८॥

वृत्ते तु दीपेन गृहे प्रकाशन, धूलीप्रमुरगस्य विशोधन परम् ।  
न चेद्भवेत् तत् प्रथम तदा पुन , सुवणरूप्यादिरपोहित भवेत् ॥५९॥

तत्रैव बोधेन विना वृत्त तपो, भवेत्कामेन युता विनिर्जराम् ।  
हेतु प्रति, प्राप्तिरतो न मुक्ते—राण्येहेयार्थत्रिदा न तत्र ॥६०॥

निरोध वृत्तश्चेन्न नूत्नादस्ता त्रा, पुराणाधनाशोद्यम आत्तरूप ।  
यथार्थपापप्रचयक्षय स्या—द्विवुध्य तत्तत्करणि निरुन्ध्यान् ॥६१॥

उद्यमो यत्ति वृत्तो मनस्विना, सयमे तपसि च श्रुतागमे ।  
निवृत्ति फरतले पुन स तु, ज्ञानिनोक्षपरथाऽन्धनृत्यनन् ॥६२॥

ज्ञानेषु पञ्चसु पुन श्रुतमेकमेव,

व्याख्याति रूपममल स्वपराश्रयाद्धम् ।

मूकानि शेषमतिमुख्यविबोधनानि,  
स्वेयां न रूपममलं वदितुं क्षमाणि ॥६३॥

ज्ञानं यद्यपि केवलं वरतरं सर्वार्थबोधान्वितं,  
नित्यानन्दसमन्वितं नियतताध्राजिष्णु सर्वोत्तमम् ।  
मेरौ काञ्चनसन्ततेः सममिदं लोकोपयोगोज्झितं,  
तत्स्वर्णं खनिसम्भवाभमनिशं श्रोता श्रुतं संस्तुयात् ॥६४॥

कालोऽयं कलिसङ्घितो न च नृणां ज्ञानानि शेषाणि वै,  
नैवाकाशविचारिणां गतिरिहासत्त्वं च लब्धिस्पृशाम् ।  
मेधा नैव तथाविधा गणभृतां सद्योगयुक्तात्मनां,  
तुल्या, शासनमार्हतं विजयते सामर्थ्यमाप्य श्रुतात् ॥६५॥

जैनेन्द्रशासनमिदं सकलान्यतीर्थ्य-  
न्यत्कारकारणसहं जयतीह लोके ।  
सर्वोऽप्ययं लिखितशास्त्रभवोऽनुभावो,  
ज्ञात्वेदमत्र लिखनेऽलसिता सतां का ? ॥६६॥

जैनाऽसौ वरभक्तिभाग् वितनुते नित्यं महं ज्ञानगं,  
तत्रापि श्रुतलेखनावनविधौ जैनेन्द्रविम्बेष्विव (म्वाधिके) ।  
देवा यद्वदवाप्य जन्म झटिति श्रौतीं सरन्त्यर्चनां,  
तद्वद्यः प्रतिवासरं वितनुते श्रौतीं सदर्चा मुदा ॥६७॥

इति षड्विंशोऽध्यायः ॥

। सप्तविंशोऽध्याय । ( श्रमणाधिकार )

जैनोऽसौ जिनशासनाधिगमतो जन्म स्वकीय सत्ता,  
धन्य मन्यत आत्ममुक्तिपरम नास्तीतरच्छासनम् ।  
पूज्यत्व जिनशासनस्य सकलशोभाहरात् सर्वदा,  
जीवाना हितदशनात्घटितानुस्तेर्मुमुक्षुप्रहात् ॥१॥

द्वो रागविनाशकृत् न सत्माधोर्दिशेच्छासन,  
ज्ञानादित्रयसयुत निरमण पापेभ्य आरयाज्जने ।  
विद्वत्सु प्रतीत पद प्रथमत स्यादशम्भुतो,  
नो चेद्देष्टरि नतरे च विमिता नैवार्हणा सन्नृणाम् ॥२॥

आत्मा केवललघिमीलनपर स्याद्रागरोपात्तिजिद्,  
यस्माज्ज्ञानशोन नश्यत इहावृत्त्यौ कपायान्वित ।  
अधौ नत्र विगच्छतो भवकरेऽनिष्ट कपायान्वये,  
तत्कवल्यधरो जगत्पतिरसा श्रीरीतरागो जि ॥३॥

महत्त्वं जिनम्यामि यत्सोऽपिलार्थान्, समत्वेन केच्येक मामान्यरूपान् ।  
प्रथमपधाराम्नु वत्ति प्रकृष्टार्, विशेषान्वितार् युग्मरूप पन्थ ॥४॥

पद्मा यथा स्याद् ऋजुतान्विताङ्गुलि, नष्टा स्थिरोत्पादयुता तु सत्र ।  
एव प्रभु कालभित्तिथिताना, वत्तीह पर्यायत्ताश्रितानाम् ॥५॥

द्रव्याभिधानेन समूहमेव, स्याद्वाद एवामि पदाथरूप ।  
बुध्यात्पर नित्यमता, परेशे, स्वग्निन्ननित्ये न हि शुप्रहा म्यु ॥६॥

भिन्ना जीवा भवेयुर्यन्ति न हि करणैर्ज्ञातसौख्यादिभाक्तो,  
थातम्य प्रेय ज मासुभूत इह नहि प्रेयत किं तु दह ।

जीवे यातेन वेद्यं करणविधिगतं वेद्यते प्राणधर्ता,  
भिन्नाऽभिन्नस्वरूपौ तदिह किमुत न जीवकायावपीष्टौ ॥७॥

समस्तमस्तीह जगत्स्वरूपे, सदन्यभावेन सदेव न स्यात् ।  
नोभात्मरूपे विषयस्य भेदो, यदिन्द्रियैर्गम्यत आत्मगम्यम् ॥८॥

सर्वादिसामूहिकशब्दयोगे, वाच्यं समं नैव तथा ह्यवस्थाः ।  
जीवेषु सर्वेषु गुणाः समस्ता, नाऽजीवगास्ते निजरूपनिष्ठाः ॥९॥

कर्मावृतत्वात्कृतिरेतद्बुद्धवे, कार्यं ततस्तद् द्वयरूपमेव ।  
स्याद्वादमेवं जगतो विबुध्य, दिदेश नाथो भविकान्छिवाय ॥१०॥

नैकस्य सर्वज्ञदृशेति शिष्यान्, जगाद निश्शेषविदे सुमार्गम् ।  
सर्वे लभन्तां शिवमित्थमुग्रं, जिनेश्वरीयेषु नृषु स्वतत्त्वम् ॥११॥

दिष्टो यद्यपि सर्वभावविदुषा मार्गः कषायोज्झितो,  
नायं सिध्यति साध्यते क्रममृते तद्धेतवः साधकाः ।  
दिष्टास्तत्क्रमशः समुन्नतिमयाः शिष्येभ्य एतत्पदे,  
येनाऽशक्यमिदं समस्तकलनं त्वेतद्धि नो स्याद्रुचि ॥१२॥

न नित्य आत्मा न च नात्र्यनुक्षणं. ततोऽस्य सिद्धत्वमसम्भवन्न ।  
नैरात्म्यवादे न किमु प्रभावो, नश्येन्न पश्येदिति शल्यनाशः ॥१३॥

निरीहतायां न सतोऽपि रागो, वैराग्यनिष्ठो न च दुःखरोपी ।  
आत्मा स्यभावेन युतो न सुख्यपि, स्वरूपरक्तस्य न मोहहेतुः ॥१४॥

स्वरूपमालिन्यमतो न तस्य नैर्मल्यसिद्धयै खलु मार्गदृष्टिः ।  
साधप्रत्वमस्यैव तदीयजीवे, तत्रैव सम्यक्त्वमदर्शि विज्ञैः ॥१५॥

माध्ये निश्चित उग्रमो नु त्रिदुपा मोक्षे त्वनन्यात्मक-  
 ध्वारित्र ह्यत्र उग्रमो न च फलेज्ज्ञान विना कस्यचित् ।  
 हेतो साधनत्राधनप्रचयग कर्मागमोद्योतने,  
 साधनत्राधकसार्थग भवति तत्कर्मागमोद्नाधने,  
 ज्ञातव्यानि ततोऽघसङ्गमहता रूपाणि सत्त्वोद्भूरे ॥१६॥

मत्त्वैत्र जिनराड दिदृश भविन सम्यक्त्वत्रोधव्रता-  
 न्यन्ये तद्विधत्रोधवृत्तरहिता देदु न चैत्र क्षमा ।  
 तत् ससारसमुद्रवाहनिरतोऽनादेरसौ नासन्त्,  
 पुण्योद्देगपर समस्तत्रिदमुन्मोह जिन दुगत ॥१७॥

मत्त्वैत्र भवत्रारिधे परतट गन्तु मुनीगो जिन,  
 दातार शरणम्य कर्मकटकात् त्रातारभाशिथ्रियत् ।  
 सेनानी सुभटान् रणाङ्गणभुवि प्राप्तत्रिय स्यादत्,  
 वक्तुं चैत्सुभटा रणोद्यमपरा अत्रोद्यमस्तद्वित ॥१८॥

मत्वेति प्रवरोद्यमा मुनिनरास्त्यक्त्वाऽऽश्रवान् पञ्चधा,  
 ससाराम्नुधिर्धने पटुतरान् दु रैकदायानलान् ।  
 पोत सपररूपमाप्य मथने शुद्धे तपस्युग्रता,  
 चालान् धृद्धतपस्विनश्च सतत ये स्यु सदा सेविन ॥१९॥

शिक्षासु प्रवणो भवेन्न मतिमानाऽऽरम्भत कास्वपि,  
 किं कमक्षपणाय सान्तरतया प्रारम्भतस्तत् क्षिपेत् ।  
 सन्चेष्टोऽपि ततो नरो धृतिपर प्रोद्युक्तयत्न सत्,  
 काङ्क्षी चेत् प्रवरम्य तस्य यतते काष्ठा परा चायता ॥२०॥



आजन्मभाविनि कलानिचये यदीदं,  
 किं तर्हि नैकभवसाध्यफले चरित्रे ॥  
 तत्राऽस्ति योगजकृतिर्वहिरात्तहेतु-  
 रात्मोद्धृतिः पुनरिहान्तरसाधनाढ्यः ॥२१॥

छात्रत्वं यदि न त्यजन्ति सकलां विद्यां ग्रहीतुं गता,  
 मन्दं मन्दमनुश्रयन्त उदितां तां शिक्षमाणा अपि ।  
 अव्यावाधपदैपिणोऽपि हि तथा श्रामण्यमल्पं गता,  
 यत्कर्माऽस्ति घनं भवैस्साणितैर्वद्धं च क्षेय हि तत् ॥२२॥

ऋद्धौ कीर्तौ क्रियायां गिरिवरचटने ग्राममन्यं यियासौ,  
 विद्यायां गौहचियां क्षितिगृहकरणे कूपमित्त्वां कृपौ च ।  
 मन्दं मन्दं प्रवृत्तः स्थिरकृतिरुपयात्यन्त्यमुग्रेऽपि कार्ये,  
 किं तर्हि मोक्षसिद्धयै चरणमनुचरन् शस्यते नाल्पमिच्छन् ॥२३॥

यथा जनेषु स्वलजा भवित्री, सर्वेषु कार्येषु जनप्रसिद्धा ।  
 तथाऽन्तरङ्गारिजयप्रवृत्तौ पञ्चेति भेदाः श्रमणत्व उक्ताः ॥२४॥

अज्ञानसंस्कारविमोहमादैः, कश्चिद्भवेद्भागयुतोऽथ साधुः ।  
 शरीरयुक्तेषूपकारकेषु, स संयमी सन् वकुशाभिधानः ॥२५॥

कपायदोषाद्विनिमोहनाच्च, भवेत्कपायी वितथादृतिश्च ।  
 आचारमार्गं ( ज्ञानादिकेषु ) प्रयतोऽप्यरागे, कुशीलसङ्घः स  
 मुनिर्विगीतः ॥२६॥

तपस्तन्वतः शुद्धसाधुप्रतिष्ठा — पदस्योद्धवेहृद्विधरुदाररूपा ।  
 सैन्यं नयं चक्रधरस्य दाम्येन्, कुप्येत् कदाचिच्च कुतोऽपि हेतोः ॥२७॥

कर्तुं क्षमा स्याद्विकल क्षमस्तथा, समद्विपात्र न तथर्धियोगात् ।  
एव मुनि सोऽनुगत' प्रकोप, विराधना विपयुता प्रयाति ॥२८॥

यथा सुरण मलिना दृशा गता, जहाति जातिं न तथाऽनगार' ।  
एते प्रयोक्ता विजहस्त्ववेप, सोऽय पुलकाभिधया प्रगेय ॥२९॥

देयता सर्वथा जिनरैर्गणधरै - गीतपूर्वा समस्ताऽऽश्रवाणा,  
तत्र हिंसादिका नियमनै परिहृता इन्द्रियाणा निरस्यैतदर्थान् ।  
शोधमुख्यान् पुनश्चतुर उद्धरति स प्राप्तसिद्धनिर्ग्रन्थभागो मुनि  
स्तुर्यभेदे पुन शुचितरा परिणतिं प्राप्य निग्रन्थनामा भवेत् ॥३०॥

यदा छेत्ते भवेद्वेतोधुन कार्यस्य भाज्यसौ,  
च्छेत्त तत' कपायस्य क्षयो ज्ञाननकर्मणाम् ।  
एन निश्चेषभावाना ज्ञाता स्नातकता गतो,  
यस्मान्न लिप्यते जातु क्षीणं कमभिराप्तिमान् ॥३१॥

वाद्याद्वनादे सुविनिर्गता इमे, ग्रन्थात्ततस्ते व्यरहारनीत्या ।  
पञ्चापि नैग्रन्थमनुश्रिता हि त्रिशुद्धिद्वेनकुगात्किा भिद ॥३२॥

एता साधकमश्रितान्स्तमोद्भावाद् मुनित्वे भिद ,  
सन्त्यन्या अपि पञ्च सयमगता सामायिकाद्या भिद ।  
नैग्रन्थ्ये तु पुगेदिता भिद इह स्यात्मयतराश्रया,  
नोचेद्भेद उपाधिषु प्रगुणितो नाऽसौ त्रिशेष्ये भवत् ॥३३॥

त्यजन् स्वीय गृह सर्वान्ग्रामूल प्रतिज्ञया,  
जन्म स्वीय फरीरुर्यात् तदाऽसौ सात्त्विक पुमान् ।

ज्ञानादिषु प्रतिज्ञां चेद्यावज्जीवितमाचरेत्,

ततः साधुत्वमागत्य प्राक् सामायिकमाश्रयेन् ॥३४॥

बुद्धा यदा भवगता गुणशून्यताऽग्न्या,

जन्मान्तकाऽऽधिदहनेन जगद्विदग्धम् ।

त्राणं गुणौघसहितं परिमुच्य धर्म,

नान्यत्ततो भवममुं परिहर्तुकामः ॥३५॥

गृहं त्यक्त्वा दीप्तालयसममिदं स्वार्थनिरतं,

कुटुम्बं पापालेर्नियतमनुभूतं भवगतम् ।

मयैवैकेनेदं विविधगतिपूद्दामदमनं,

विनैकं धर्म नो पर इह परत्राऽपि सुखदः ॥३६॥

ततोऽहं प्रब्रज्यां गुरुवरसमीपाद् वरतरां,

गृहीत्वा पापालेर्निजकमभिरक्षामि इदिति ।

विचिन्त्यैवं जीवो गुरुपदमितो याति मुनिताम् ॥३७॥

त्यागः सचित्तस्य समानभावा, भ्रमिस्तु भृङ्गेण धरातले शयः ।

केशस्य लोचो भ्रमणं पृथिव्यां, चर्या मुनेस्तद्वरणे गुरुः सति ॥३८॥

तं मुण्डयेच्छुद्धतमे मुहूर्ते, भवेद्विशिष्टः परिमुण्डने विधिः ।

ततो विधौ शास्त्रकृता विभिन्न - मादेशयुग्मं कथितं यथार्थम् ॥३९॥

गार्हस्थ्ययुक्ता न सचेतनादीन्, बुध्यन्त आप्ता न यतः स्वधीतिम् ।

षट्कायभेदान् सविशेषबोधा-ज्ज्ञात्वा तदीयां यतनां विसेध्युः ॥४०॥

महाब्रतानामपि लब्धबोधाः, सम्यक् परित्यागपरीक्षणेपु ।

सुलब्धपाराः, श्रमणा द्वितीये, स्थाप्यन्त आर्यैश्चिच्छ्रद्धयाभिधाने ॥४१॥

छेदोपस्थापनीयाभिहितिसुधरणात् साधुपर्यायसङ्ख्या,  
गण्या यस्मात्ततोऽमी घृतपरिणतिका सद्वितीयाञ्चरित्रात् ।  
साधूना सर्वचर्या मुनिपतिगणतद्वासिना निश्चया स्यात्,  
पश्चात् प्राप्त श्रुतार्लि परिणमितन्श स्यात्तृतीये चरित्रे ॥४०॥

एव श्रामण्यचर्यामनुगत उदितो मोहनीयभयाय,  
तत्रापि प्रान्त्यभागे यन् भवति कणो लोभगो नाशनीय ।  
तत्राऽसौ शुद्ध आत्मा चरणमनुपम तुर्यमाधाय तिष्ठेत्,  
सूत्राक्त सम्पराय जिनपतिचरणादेशमात्रेण हीनम् ॥४३॥

जिनानां चरित्र कपायैर्विहीन, यथाख्यातमेतद्वि घय ममेषु ।  
समप्रा पुरोक्ता अधिष्ठाारपात्र, समाश्रित्य वर्तन्त एतञ्चरित्रम् ॥४४॥

एव साध्यस्य काष्ठा विविधगुणवतीं लक्षणीकृत्य पञ्च,  
प्रोक्ताश्चारित्रभेदा शिवपदपयिका सयतारया वहन्त ।  
सर्वेऽप्येते दशापि प्रवरगुणगणा भिन्नभिन्नस्वरूपा,  
शग्य साधुत्वमेषा निरकृतिसज्जुपामीर्ष्या हीनचित्ता ॥४५॥

नम्या सर्वेऽपि जैनै परमपदगता ईशितारो गुणाना-  
मत्ये स्थाने स्थितास्ते नतिपन्सहिता सत्रशदस्तु साधौ ।  
यत्तत्रानेकरूपाश्चरणमधिगता भिन्नभिन्नोत्तरेष्वा,  
सर्वेऽप्येते समा स्युद्रमन्तरपतिस्थानभेदोऽपि ताऽत्र ॥४६॥

सर्वथे नम्यपादा मुनीशा, धर्मानिके त्यक्तधर्मागिरिष्ठा ।  
मोहोन्माथे यद्वज्रता मँ ते, नम्या गुन्या सर्वदा मन्त्रि र्हा ॥४७॥

धर्मातिरिक्तं सकलं समुज्झित-मनन्तरं चापि परम्परं च ।  
तेनैव शास्त्राधिगतावमीपां, स्थानं यदेते दुरितान्निवृत्ताः ॥४८॥

धर्मातिरिक्ते नहि सद्दृशां स्या-च्छ्रेयस्त्ववुद्धिर्जगतीपदार्थे ।  
तथापि पापप्रवरोऽवसाय इतीह नो तेप्यधिकारिणः स्युः ॥४९॥

मिथ्यादृशो जीववधेषु सक्ताः, परिग्रहस्य प्रचये च लीनाः ।  
ते त्याग(मोक्ष)मार्गोदितयः समस्ताः, संसारमार्गा इति सङ्गिरन्ते ॥५०॥

न काकवक्त्रे परमेष्ठिवाचो, निष्ठा वधे ये च परिग्रहे च ।  
तेषां हि वक्त्रे शिवसार्थवाचो, भवेयुरा नैव च तासु रागः ॥५१॥

ज्ञानं मुनीनां शिवमार्गसिद्धये, पर्यायमानेन ततो ह्यमीपाम् ।  
अङ्गोदितानां क्रियते हि दानं, नेत्थं विदन्ति प्रसभं ह्यगीताः ॥५२॥

उद्धोपणां कर्तुमलं नयानां, ये सन्नयेषु प्रसभं प्रवृत्ताः ।  
आरम्भमग्ना नहि जैनवाचां, हीनां वधाद्यैर्गदितुं समर्थाः ॥५३॥

शास्त्राणां प्रथमं कृतं जिनवरैः सङ्घस्य धर्मोदधे-  
रादानाय शमप्रबोधचरणान्यघोत्तराणि सदा ।  
धर्तुं सत्परिणामरत्ननिचितेः पाठोऽपि तेषां मुनेः,  
तत्तत्साध्यमृतेऽङ्गमुख्यपठनं शाठ्यं परं कद्दृशाम् ॥५४॥

मत्यादीनि त्रिवोधनानि भविनां चत्वारि सन्ति स्वयं,  
जातानि प्रशमाकरं श्रुतामिदं तीर्थङ्करोक्तं परम् ।  
कारुण्यं भवभावविच्युतिकरं चित्ते निधायात्मनां,  
दत्तं तत्सफलं भवेद्यदि पुनरुद्यम्यते मुक्तये ॥५५॥

मत्यादयं सन्ति ससाधना इह, बोधा-म्वरूपेण फलेनयुक्ता ।  
आदेयहेयादिफला म्वय ते, श्रुते तु चारित्रफळ न चान्यन् ॥१६॥

चे त्वात्रवेभ्यो न निवृत्तचित्ता, न सत्रराणा धरणे प्रसक्ता ।  
मिथ्यादृशरते मतिशास्त्रहीना-श्चक्षुर्गृथा कूपपतजनानाम् ॥१७॥

अध्येय मुनिमि सदा गुरुपदोभाराधनातत्परै-  
यद्वक्त्राद्विनिरेति शास्त्रममृत नित्य मृतेर्पारकम् ।  
वासोऽनेन गुरो बुले फलभर दत्ते मुनित्वे धृतिं,  
नोक्त ह्येकचरस्य मयममुखो धम परार्थागतं ॥१८॥

सङ्घेऽत्र पूज्यपदवे गुणसङ्घयुक्ते,  
भैश्चतुर्भिरुदितेऽमलमार्गनाक्षे ।  
उदेश एक-उदित सकलाधनाश-  
स्तत्रोद्यता मुनिपरास्तत्सेविनोऽन्ये ॥१९॥

दाग सुपात्रमिति यद्गदित मुनीश-  
स्तत् सयमस्य परिपुष्टिनिधानहेतो ॥  
प्रेत्याप्तिरस्य मनुते निरघेयना-  
द्यत्प्रोच्यते परभवे शतशस्तन्यपि ॥२०॥

मुरारिस्त्रिगण्डस्य नाथो विरत्या, हीनस्तथा ध्रेणिकराजराज ।  
भविष्यतस्तीर्थकरौ तदेतत्, नितामत्रगस्य मुनित्वदानार् ॥२१॥

मुनिभ्यो नितान्त ततोतीडवर्गो, निदान सुशाना धनिश्रायकाणाम् ।  
यस्मान्नपातोपट्टिप्रधान, तेषा भवेत् मयमसाधन सुगम् ॥२२॥

याच्यं परेभ्यो मुनिभिर्यदैतद् , मुधाऽस्य हानं विहितं किमेभिः ।  
दोषोज्झितं तन्मुनिभिर्गृहीतुं, युक्तं यतो याचितमेव तेषाम् ॥६३॥

अकल्पितं न लभ्यते परं पचिक्रिया यदा,  
मनो दधत्तु साधुपूद्यतं तदा तु दोषितं तदत् ।  
अरण्यसूतकादिकेऽपि दानशून्यपाचनं,  
ततश्च शक्यतोत्थितो मुनीशधर्म आहितः ॥६४॥

फलं दातुर्दानात् परिणतिदिशामाश्रितमिति,  
मुनित्वाग्निं प्रेत्याप्स्य - इति मनसा ह्यभिलषन् ।  
असौ दुष्करकारस्त्यजति च सदा दुस्त्यजमिदं,  
न जात्वर्थ(र्ध) लेखे लभत उदितं लेखविगतम् ॥६५॥

दाता चेद्भवतीदृशो मुनिमभिप्रेत्याघराशिं क्षिपेद् ,  
द्रव्यं चेद्रहितं विशुद्धिविधिना पापं क्षिपेद्भूरिशः ।  
किन्त्वल्पं विदधाति नूतनमयं पापं परं नानुगं,  
पुण्यं साग्रमुपैति बोधरहितो दाताऽशनादेर्मुनौ ॥६६॥

तारकं भवोदधेः समर्पकं गुणावलेः ,  
शोषकं तमोदले विवोधकं शमाचले ।  
आश्रवाम्बुनाशने निदाघतापसन्निभं,  
मोक्षसार्थवाहमेनमर्चतान्मुनीश्वरम् ॥६७॥

भवसागरतीरमभिप्लवनं वरसंवरनिर्जरणोन्मिलितम् ,  
जिनमार्गमनुश्रयितुं प्रवणं परितर्पयतीह निरीहजनम् ।

शमत्रोधचरित्रगुणापणत शिवमाधनशुद्धसहायकृते ,  
गतकाममनुश्रितधमपत् परिचारयतिश्रयतान्छ्रमणम् ॥६८॥

भयमाराधयेच्छिष्टपथ साधयेत् गुणगणाप्राप्तिनिपुण हृत्य धरेत् ।  
पापमार्गाच्च्युत समत्रश्रेणिग निजरात्रहनग सयमधर हृदि चिन्तयेत् ।  
कर्मदात्रानले शमपयो वर्षयेद् गुणिजने मोदमनिश मनसा वहेत्,  
क्षान्तिप्रारानिधि कृतमघ चिन्तयेन् मत्नगे नैव गमन मुचनो  
धरेत् ॥६९॥

न यम्य रागरञ्जन न लेप आश्रिते जने,  
सचित्तमुग्व्यसाधने न सद्गलेश आप्यते ।  
ज्वल्लसपोजतेजसा दिवाकरोऽत्रदीप्तिमान्,  
स मौम्यतागुणैर्जनेषु चन्द्र आप्तवानमुम् ॥७०॥

स ईदृश मुनिं सदा श्रयेत् भावशुद्धितो,  
द्वयेऽपि याति सद्गतिं मुनीश्वरोऽथ वन्दक ।  
न जैनशासने मताऽधमणरीतिरल्पश ,  
प्रदीपकान्तिवत्समेषु जायते फल वहौ ॥७१॥

स जैन म्याच्छेष्ठ प्रचुरतरगुणैर्युक्तमनिश,  
सदा मोक्षयोग दधति च परमानन्दकलित ।  
शिवाप्त्य सत्साधु निनपरिकरतो वत्सलधर,  
नमेन्महत् शुद्ध निजजननफल नापरमत ॥७२॥

इति मत्तत्रिंशोऽध्याय ।



। अप्राविशोऽध्यायः । ( श्रमण्यधिकारः )

जैनाऽसौ श्रमणीगणं शिवपथोत्साहं धरन्तं सदा,  
पश्येत् स्वीयकुटुम्बलोकललनावर्गान्मुदा सादरम् ।

स्त्रीत्वाज्जन्मन आरतोऽपरवल निश्राययो जीवित-

स्तं संरक्षणमानभक्तिकरणैः पुष्याच्च धर्मोद्यतः ॥१॥

तं रक्षेन्निसारसुन्दरतरस्त्रीसार्थमध्ये धरन्,

तस्योपासनया स्वकीयजननं सम्प्राप्तसारं निजम् ।

मातास्त्रीभगिनीमुखः प्रतिदिनं स्वस्योक्तितो मानये-

देवं चेत्प्रविधीयते यदि तदा सच्छ्राद्धतामाश्रयेत् ॥२॥

स्त्रीभ्यः पुराऽनेकविधान् प्रचक्रुः सुदारुणान् देवनराग्रगणाम् ।

सङ्ग्रामलक्षान् महतो भयङ्करान् योऽसौ मुरारिः समदीक्षयत्

स्त्रियः ॥३॥

मात्रा पुरा सप्त वराः सुपुत्र्यो व्युद्ग्राहिताः कृष्णपुरो विमार्गणे ।

याः स्वामिनीत्वस्य कृते स विष्णुस्ता नेमिनाथं सकलाः समर्पयेत् ॥४॥

द्वारावत्या विदाहं जिनपतिमुखतो भाविनं वेदयित्वा,

शाम्ब-प्रद्युम्नहेतोर्मरणमुखकृतोग्राहनाद् मुनीशात् (तमोऽन्तात्) ॥

पुर्या तत्राखिलायां प्रब्रजनकृतयेऽदापयद् घोपणां सः,

यः कश्चिद्दीक्षितः स्यात्तनुजमुखजनं निर्वहिष्यामि तस्य ॥५॥

परःसहस्रान् जिनराजपार्श्वे, राज्यादिलोकान् समदीक्षयत् सः ।

विष्णुस्तथाकारणतो न्यवद्ध ( भान्त्सीत् ) श्रीजिननामाऽचलितस्व-

भावम् ॥६॥

शिष्यापणान्मुनिपतिभ्य उपाजितं प्राग्,

यत्तीर्थनामं जिनपतेः परिवन्दनाया ।

तद्धारितं फलभरं सुनिवाचनेन,

सेनापराभयभयोद्दलनाय दीक्षा ॥७॥

मगधदेशविभुर्नृपनायको, विविधकूटभरेण समजयन् ।

बहुतमा ललना जिनवीरत श्रमणमागमय समतारयत् ॥८॥

विविधशास्त्रसुधारससेकत, (फल) श्रमणवृत्तिरुदप्रफलानता ।

स्वयमशक्तित उग्रप्रसक्तितो, भवरतोऽपि परान् कुरुते मुनीन् ॥९॥

परा यथा मोक्षविमागणोद्यता-स्तर्यव नार्या भवभावभेदिका ।

दुर्गं सुदुर्गं न्यतिवृत्त्य मोह-भनन्तन्न्धान् प्रनिनाशयन्ति ॥१०॥

सम्यक्त्वलाभात् प्रथमं मुदीर्घा, क्षेया स्थितिर्मोहनृपस्य तीव्रा ।

अतीत्य ता चेद्दलना समीयुः प्रयान्ति कैवल्यमिमा (ममू)

न चित्रम् ॥११॥

स्त्रीत्वस्य हेतुर्यदमूदसु सा-ऽनन्तानुग्रन्ध क्षयितु समर्या ।

सा किं न जेषा प्रकृती क्षिपेत, भागे ह्यनन्ते बलमेव तासाम् ॥१२॥

दशने विग्रन्धक च कमग्रत्, प्रगीयते,

क्षेपकोऽस्य साधुतोऽपि निजरेदसङ्ख्यकम् ।

अस्मि चेत् समर्यताऽङ्गनाजने तदाश्रिता,

तदा सदा म किं भवन्न साधुतापदान्वित ॥१३॥

न चाम्यर विरोधभाक् चरित्रमम्पदा मत,

यदस्वनोर्न किञ्चिन्न्यदाश्रित ममत्वकृत् ।

न धर्महेतुतो मता तनुर्ममत्वसाधनं,  
तदाऽम्बराणि किं ततस्तथाभूतानि सन्ति न ? ॥१४॥

पत्यौ मृते तदनुकश्चिदिहाङ्गनाजनः,  
स्नेहाद्विशेषदि चितां जनतासमक्षम् !  
तस्यास्ति दुस्त्यजमिदं किमु चीवरं यद्,  
नग्ना न सन्ति बहुशः किमु योगिकान्ताः ? ॥१५॥

स्थानानि सन्ति ललनाङ्गगतानि जीव-  
संसक्तिमन्ति यदि नैव ततश्चरित्रम् ।  
तासां तदा पुरुपकायगतानि किं नो,  
चिह्ने गुदे जठरभाग उदीक्ष्यतेऽङ्गी ? ॥१६॥

पट्कायजीवयतनाप्रयतस्य न स्यात्,  
पापस्य लेश इति वारिधरेषु सिद्धाः ।  
न ह्यङ्गनासु यतना नहि, जीवबोधात्,  
तत्केवलं चरणयुक्तममूषु ( न स्यात् ) किं न ? ॥१७॥

अध्येतुमर्हा नहि दृष्टिवादं, स्त्रियस्तदाऽऽसां किमु केवलं स्यात् ।  
न जातिहीनाय चरित्रदानं, ततो न किं सोऽव्ययमाप्नुयान्तो ? ॥१८॥

जिनादिकल्पा न भवेयुरष्टा-व्यानो(उ)नवर्षा विधिशास्त्रवाक्यात् ।  
एकोनत्रिंशच्छरदामधस्ता-च्छामण्यभावोऽपि न केवलं किम् ? ॥१९॥

भवेन् मनः पर्ययवेदनं न हि, त्यक्तो न यावद्गृहकार्यभारः ।  
ततो न किं स्यात्स्वकलिङ्गशून्ये, सार्वज्ञ्यमुक्ता कथमत्र भक्तिः ॥२०॥

नाथ प्रकृष्ट ललना प्रयान्ति, स्थान तत किं परमैरुम्ना ।  
पापोपचित्या नहि ता स्वतन्त्रा, धर्म तु कस्ता परतन्त्रयेन्नु ॥२१॥

न चास्ति साम्य त्वध उर्ध्वगत्यो , स्पष्टो विरोधो जिनराड्प्रिचारे  
( न जिनेन्द्रमुग्धे ) ।  
समस्तसौरयाधिभियतिं साऽन्य, स्थान युत केवलशाश्वतप्रिया ॥२२॥

। तप प्रभावोऽसम आर्हताना, नराचरोधेऽथ पुराण (रोऽध) नाशे ।  
प्रत्यक्षमासा प्रजलो जगत्या-मसौ तत किं न शिः ह्यमूपाम् ? ॥२३॥

प्रिकल्पभेदान् प्रविशयद्भिर्भाष्ये न्यगादीत्वरलिङ्गभेद ।  
भेदे न चोक्तोऽत्र मनोविवोधे, लिङ्गोद्भवोऽस्तु प्रमदासु मोक्ष ॥२४॥

स्त्रियो जगत्या रल्लु दुष्करक्रिया , प्रेतेऽपि पत्यो मरणावधिं यत् ।  
वर्मेन रथन्ति सग म्वशील, मृतेषु तारेषु नरास्तथा नहि ॥२५॥

रक्षायै स्वकशीलरत्नसुनिधे कोटिं व्यथाना परा,  
यो सत्यो जगतीह सुन्तरतरोद्भावा न किं सेहिरे ? ।  
तासा शेषितपापिका गुणधरीमाप्या दशा को नर ,  
श्रद्द्याद्रतकुश्रुतिस्मयमदो नैरागमौधेरिताम् ॥२६॥

श्रद्धा हि धमस्य पवित्रताभृ-न्मूल सदा जीवगत सुरार्यम् ।  
तद्रोपयेद्वशगत सुरामा - स्ता सुाठुमार्गा श्रमणीसुसद्भात् ॥२७॥

धशे मुले चापि भवेत्प्रभुय, आह्वा स्वकीयामनधा निवाटुम् ।  
'निवेश्य तस्मिन्मणीसमूहो - दृष्ट गणीश श्रमणीवरेयु ॥२८॥

निवेश्य ताः साधव उग्रसत्त्वा, ग्रामान्तरे वासमुपश्रयेयुः ।  
वासो हि मासद्वयमेव धाम्नि, गणोद्भुरैस्ता अपरं तु नेयाः ॥२९॥

प्राक् प्रत्युपेक्ष्यापरधाम वृद्धा, योग्यं मुनीशाय निवेदयन्ति ।  
मत्वा निरावाधमुदारभावं नेतुं परं धाम नयेयुरार्याः ॥३०॥

यथाऽवरोधस्य नृपा गताधं, कुर्वन्ति देशान्तरगन्तुकामाः ।  
रक्षापुरोगं नयनं तथाऽऽथै—स्तीर्यन्त आर्याः शुभसत्त्वरक्ष्याः ॥३१॥

गणोद्बहा नैव समे मुनीशा, आर्यागणं वर्त्तयितुं समर्थाः ।  
आर्यागणं वर्त्तयितुं क्षमो यो, भवे तृतीये शिवगो ध्रुवं सः ॥३२॥

सूत्रे हि पर्योषणकल्पनाम्नि, द्वितीयभागे प्रथमाङ्गसंस्थे ।  
गण्यादिपुगात्पृथगुक्त आप्तैः, सार्यासु धत्ते गणधार आज्ञाम् ॥३३॥

यथा पदानि प्रथितानि गच्छे, सूरीश्वरादीनि सुमाधुमान्ये ।  
तथाऽत्र पञ्चापि महत्तरीमुखा—न्यर्च्याणि साध्वीगणपालकानि ॥३४॥

आर्याऽपलापे त्रय एव भेदाः, सङ्घस्य वा पञ्च न चेदमार्यम् ।  
तत्सूत्रभेदे प्रवणो हि मन्यात, साध्वीव्युदासं ननु नग्रचारी ॥३५॥

कस्या अपि स्पर्श उदस्यते स्त्रियाः, स यात्वसौ त्याज्य उदारसत्त्वात् ।  
स्पर्शः पुरुषस्य तथा द्वयोर्भवे — चचारित्रसारस्य यथार्थरक्षा ॥३६॥

धामद्वयं तत्पृथगेतयोः स्याद्, गमागमौ नैव न च प्रवेशः ।  
यथा तथाऽन्योऽन्यसमागमो न, यथार्थतथ्या जिनशासनाज्ञा ॥३७॥

अतो न्यपेवि श्रुतमागरे श्रुते, वर्षादिहेतोरपि धाममध्ये ।  
उर्ध्वस्थिति नीलमुसाधनायै, न पञ्चम स्याद्गहिणा न चेश्रणम् ॥३८॥

रक्षया श्रमण्य सकलस्वशक्त्या, समन्य महद्यस्य शिवाध्वसिद्धयै ।  
अकार्पुर्गन्या श्रमणीजनस्य, (रक्षा)टुष्टोपसर्गात् सूरिकालकारया ॥३९॥

शशकभशकनन्धु चक्रतू रक्षण प्राग्,  
नशगतहतिशक्तौ आर्यिकाया प्रणामम् ।  
रुचिरमुनित्रिहीना दुष्टनिद्रशीलम्बद्धा  
सकलमलकलामिरार्यिका प्रातुमुत्कौ ॥४०॥

परिपेल्वसत्त्रवती श्रमणी, शिवमागपरा नितरा विमला,  
शिशुपालवपस्त्रि जराग्ररिता, किमु रक्ष्यपदानुगता न मता ।  
रहिता घ्रतधारणया गृह्णिणो, यदि तामसहा पटयेयुरिह,  
घ्रतलोपमधिश्रयति प्रपरा, तदुदाहरको नहि सप्रविद ॥४१॥

तत्त्वतोऽमुमान्नाहि स्ववेदधारको विभु  
यत समस्तवेदनाशसम्भवा समस्तत्रिद् ।  
वेपदेहमश्रितो विकार आत्मनो ननु  
न वायते यत सको न मोहजातिसम्भव ॥४२॥

यदि च सद्गमात्रता विनाधिकाऽस्मि वेत्रले  
सवेत्रले सतीह कोऽपि चीत्ररेण वेष्टयेत् ।  
तदा विनाशि वेत्रल किमूरीष्टत गहि ?,  
यदाद्गनाशुवेन चेत्तदा तु नश्यति द्रुतम् ॥४३॥

यदि च संहननं नहि योपितां, प्रथममेतदरिष्टमवाससाम् ।  
यत इदं नहि जैनमते क्वचि-द्भवति कीकमतो जनकाश्रितात् ॥४४॥

सङ्गी यो जातिमाप्तो नरभवसहितां स प्रभुः केवलाय,  
संहननं यो विभर्ति सकलसुरगतिप्रापणादाद्यभावि ।  
विघ्नानां घातिजानां क्षणभरकृतितो नाशमाधातुमर्हं,  
मत्वेदं सर्ववेदाः शिवपदमयितुं द्रव्यतोऽर्हाः श्रुते न ॥४५॥

वेदो नपुंसकमपि पुरदाहतुल्य-श्रेद् द्रव्यतो न विदधाति विवाधमाल्याः ।  
भावात्तु ते प्रवरमाप्य बल त्रयोऽपि, श्रेणेः क्षयं ननु व्रजन्ति न  
कापि शङ्का ॥४६॥

प्रवरवरशासनं जगति जिनशासितं, द्रव्यमेकान्तिकं न ह्युवाच,  
प्रवलतरमोहतः परवशितचेतनो द्रव्यमेकान्तिकं प्राह मूढः ।  
सिचयचयवाधनं द्रविणललनाश्रितं वेदमाहानुयुक्तोऽधर्मोक्तिः,  
श्रृणुत सुजना जनिं वरसुफलसाधनीं वाचमाधत्त चित्ते स्वकीये  
( संहदुक्तां ) ॥४७॥

वासोऽन्वितात् सितपटाद्धरिद-म्बराणां, जातः प्रभव इत्यभवत्तदङ्काः ।  
प्रश्ने कृते जनतयाऽम्बरसत्त्वजाते, दिक् चैव मेऽम्बरमिति प्रतीता  
तदाख्या ॥४८॥

प्राक् पार्श्वनाथजिनपस्य बभूव सङ्घः,  
साधूद्भुरः कलितसर्वासितादिवर्णम् ।  
वखं दधञ्जरमतीर्थगतस्तु शुभ्रं,  
ख्यातं ततो जगति शुभ्रपटा इतीमे ॥४९॥

ईर्याद्या नहि साधुतामनुस्रता निरख्खणा यतो, <sup>५७</sup> <sup>५८</sup>  
 रात्र्यादौ लघुनीतयेऽपि निरयन् कुर्यात्कथ रक्षणम् ।  
 जीवाना करिपादयद्वि दधत श्वेताम्बरा आयत,  
 पादोन्माननमस्त्रि सम्भवपद जीवावन निश्यपि ॥५०॥

सूक्ष्माणा नहि रक्षण भयभृता वस्त्र विना वादिनो, -  
 नर स्याद् भ्रमरोपम हि गमन प्रासादिहेतोर्यते ।  
 निपात्रस्य कथ ग्रहोज्झती पर स्याता विनोपक्रिया,  
 हा । हा । निश्चितनष्टमूलचरणोऽसौ नग्नकायो मुनि ॥५१॥

यथा जिनाना वरतीथनाम्नो, भोगे भवेदिन्द्रमुखै कृताया ।  
 मत्प्रातिहार्यान्विवराचनाया, अरागभावात्तु न दोषलेश ॥५२॥

नह्यचने तत्प्रतिविम्बराशे विचित्रयस्त्राभरणैर्पुधानाम् ।  
 ना चेन्मौ तर्हि कत्र पिचक्षु-र्यस्त्राञ्जलोरीक्रियतेऽर्हदर्चा ॥५३॥

विधेश्चित्राधारा परिणतिमिता विश्वविषये,  
 यदेक निर्माय प्रदमशुभकम्याऽस्ति न विरति ।  
 स्त्रिया लुप्त्वा शाटी परिणतिमितोऽसौ जिनपते  
 विलोपायाऽऽणोऽस्तु शतमुरनिपातो विधिदृत्त ॥५४॥

दिग्प्रस्रैर्ललागणस्तदनुगै शोच्य द्वय स्वान्तरे,  
 सम्यक्त्व कथमाप्यतेऽधिगमिक सृत्र च योग्य कथम् ।  
 चेत् साध्या, नहि सा पुन श्रुतमृते साधो प्रसङ्गे तथा,  
 घृत्तिभद्र उदीयते तत इत चीरेण नात्र मतम् ॥५५॥



सङ्ख्यातीताः स्त्रियोऽगुः शिवपदमसमं प्राण्यै क्वैवत्यमर्ष्यं,  
 त्रैवेये ते हि जग्मुः सचरणभविनो ये नु चैते पुमांसः ।  
 तत्रेयुर्येऽप्यभव्या न च पुरुषवरा नैव चैता अनाद्यं,  
 प्राण्याऽस्थनां सञ्चयं स्युस्तदपगत शुभस्यास्ति वाचां प्रसारः ॥५६॥

श्रीआदिनाथेन विधेर्विधात्रा, बोधाय मुक्ते भरतानुजस्ये ।  
 आर्ये, ततश्चाप स बाहुसाधु-निर्ग्रन्थयोपे ह्यमितप्रभावे ॥५७॥

चलितमपि चरित्रान्नेमिनाथस्य वन्द्यं,

व्रतपथदृढतायै योपदेशं ततान ।

स्थिरतरच्चरणोऽसौ बोधमाण्य प्रजात-

स्तत इति न समोऽयं राजिमत्याः प्रयत्नः ॥५८॥

भूपेषु वर्यो नृप आर्हतः श्री-सुहस्तिपादाम्बुजेभृङ्गरूपः ।  
 श्रीसम्प्रतीति भरतं सशोभं, चकार यश्चैत्यमुंखैर्विभूषैः ॥५९॥

सुहस्तिनस्ते भरते त्रिखण्डे, स्वदीक्षितानैकमुनीन्द्रवर्यैः ।  
 प्रस्तारयामासुरनैकशाखा-प्रशाखायाऽशेषधरां सुसांधून् ॥६०॥

तानाचार्यान् विविधविधिना पालयन्ती जिनानां,  
 धर्मस्योत्रां सकलसुकृतिनां भाविमोक्षप्रधानाम् ।  
 ख्यातिं चक्रे प्रवचनयशसे सोदरेणाप्तसद्भान्,  
 नाम्ना यक्षा प्रवरमतिधनाहार्यगिर्याख्येधर्त्रा ॥६१॥

मात्रा गुरुभ्योऽर्पित आर्यवज्रः, पण्मासमात्राप्रवयस्कवालः ।  
 स्वोपाश्रये तं धृतवत्य आर्याः, कथं न सङ्घस्तदुपक्रियां स्मरेत् ॥६२॥

जनोऽस्मां विविनद्घाति हृदये स्तेषा जनाना मतिं,  
जनेन्द्रे वरधमकमणि परा कर्तुं सुधासोत्राम् ।  
चिन्ता तत्र विशेषतो निनकुले मात्राद्रिके स्त्रीगणे,  
ता सफलीकुरुते श्रमेण सुवृपार्यासद्भवो बुद्धिमान् ॥६३॥

आर्याणा महिमाऽयमाप्तयशसा वशस्य शक्तिश्चल,  
शील मेरुमम विभर्ति ललनालोक समस्तोऽमलम् ।  
तत्रैपोऽत्र भवेद्यदीतरकुले जान नर न स्पृशेत्,  
शीलेनाप्तयशा भवेच्छ्रमयुषा ससगरक्तो भवेत् ॥६४॥

येषामार्याकुल नो सुवृत्तकृतिप्रिधौ शुद्धमागप्रप्लु,  
धर्माचारे प्रवीणा सुवृत्तवरसर्नि देष्टुमर्हाऽनलानाम् ।  
शुद्धा धमस्य चेष्टामपरपुम्पत स्याच्च धमप्रवृत्ति,  
स्त्रीणा नो तत्र शील भवति ऋजुशीला धमनाम्नाऽधमग्ना ॥६५॥

आर्याकुलेनापि तथात्र काय, श्राद्धयो यत्रा स्यु सुवृत्तोद्यता इडम् ।  
वगा महान् यत पुरुषादथाऽऽसा, कुल च धर्मप्रणीण व्यधास्यन् ॥६६॥

यथा च मोह न घजेयुरन्य-कुलोत्थिते पुंसि पराश्च धमे ।  
भवेयुरेता घतधारिवृत्तै, सस्कारभाष्या भ्रमणीजनेन ॥६७॥

निसर्गसम्यक्त्यमुदीरित श्रुते, श्राद्धाभकाणा प्रपर तदेतद् ।  
आर्याजनाद्धमपराचणत्व, जात समारयात्यवलानम्य ॥६८॥

शोभनस्य कुलधर्ममद्विधे-र्या पुन फलपरम्पराऽनघा ।  
भात्रिनी भव द्वापि ता पुन-त्वायेयुरार्यिका न चापर ॥६९॥

श्रमण्याः सत्कारं विपुलविधिना श्रावकजनो,  
विदध्यान्नित्यं चेत् कुलमपि सकलं तत्कृतिपरम् ।

अवेदेवं धर्मोद्यमपरहृदः सर्वं जदिता-

जिनेन्द्रैः सद्धर्माच्चलयितुमलं नाऽमरगणः ॥७०॥

जैनोऽसौ धर्ममूलं विनयमधिगतो धर्मकार्योद्यतेषु,  
साध्वीवर्गेषु यस्माज्जिनगणयतिनां या गुणानां प्रसक्तिः ।  
तां सर्वा मूलरूपां विशदतमगुणामेष वर्गो दधाति,  
मानं धत्ते गुणानां च इह नरगणो धन्य एषैव जैनः ॥७१॥

इति अष्टाविंशोऽध्यायः ।

। एकोनत्रिंशोऽध्यायः । ( श्रावकाधिकारः )

जैनो यो मनुते भवादिधमटतां सूक्ष्मान्निगोदाद्ब्रह्मि-  
निस्सरणं नहि दुष्करं परकृतं लोकानुभावो यतः ।  
सम्मील्याश्रितभव्ययाऽघनिचिति दुःखित्वभावे धरन्,  
निर्मायाऽल्पमसुश्रितं नयति तन्नेदं फलं स्वोद्यमात् ॥१॥

एवं क्रमैण समिलायुगयुक्तिवत्स,

मोक्षस्य भूमिमनधां नरतां च तत्र ।

देशं कुलं प्रवरजातियुतं लभेत,

सुश्राद्धमेकमलमश्नुत आत्मयन्नात् ॥२॥

मोहस्य संस्थितिमयं क्षिणुतेऽप्यवोधा-

देकोनसप्ततिमितामधिकां च किञ्चित् ।

वाराधरेषु नितरा श्रितकोटिकोटिं,  
नेत्र तथापि लभते श्रमणोपसेवाम् ॥३॥

भयत्वभावे परिपच्यमाने, भवेद्विनाशस्तदुपयमस्थिते ।  
कृतिर्भवेदात्मन ईदृशी या, भेदस्तु भावी कुलिशाभपापे ॥४॥

न तादृशीयन्तमटाटयतो भव, प्रस्फोरयामास कृतिं कदापि ।  
गीत ह्यपूर्णं तत एव विज्ञै-रप्राप्तपूर्णं करण कृतिं ताम् ॥५॥

नैतत्कस्यापि पूर्वं जगदनुभवतो वर्जयित्वाऽऽत्मयत्न,  
जात कस्यापि जन्तोन भवति भविनो भाविनीद्वेऽपि काले ।  
तद्व्यस्य स्वात्मयत्ने प्रचुरतरयले स्फोरिते मन्यभावाद्,  
जात श्राद्धत्वमस्मान् परममधिगतां शुद्धसम्यक्त्वलये ॥६॥

एतच्चित्ते निधायेतरजनहृत्पथे तत्त्वनिष्ठा प्रमाय,  
शुश्रूषा धर्मरागो जिनगुरुविषयेऽभिप्रहो व्यापृतां चेत ।  
सत्या ज्ञेया हि तस्मिन् परिणतिरमला शास्त्रग्राम्यात्रयेण,  
स्वस्मिन् ज्ञाने यद्ग न च परवशिनो नैतदपराङ्गताभाक् ॥७॥

सत्त्वेऽस्य स्वात्मनोऽपि प्रभवति रचिरा नित्यतागद्वितेऽथ,  
जीवादी म्यात्पटाङ्गा रचिरमरनराऽकम्पनीया सुशोधान् ।  
द्वेषाऽस्या दुःखधाम्नि फलमनुषृणयोद्विग्नता जन्मपार्श्व-  
मोक्षे लीन मनश्च न भवति कणशस्तत्त्वभूते (सार्थे) दुःखात्मा ॥८॥

सम्यक्त्वे शुद्ध (भाव) रत्ने धृजिनचयहते प्रापिते तीव्रभावाद्,  
यनेनात्मागलत्वकरणकृतिमरे म्यात् प्रवृत्ति ध्रुनेन ।

अन्धोऽरण्यं प्रयातो यदि शुभसुकृतो देशकादध्वयार्थी,  
चेदेपोऽशुभभावी दुरितचयधरो याति मार्गं श्रमाढ्यम् ॥९॥

यथा न भाविभाग्यवान् वृथोपदेशदायकान्,  
शरणमेति भाविसौख्यसम्पदा समन्वयात् ।  
तथा कुतीर्ष्यतन्मतानि मन्यते न दर्शनी,  
मतं ततो हि दर्शने सति श्रुतं शुभं ननु ॥१०॥

एवं प्राप्तः स्वयं स्याच्छुचितरमननं स्युः परेऽपीदृशाश्चेत्,  
संयोगः श्राद्धवयैर्भवति नियमतो धर्मकल्पद्रुमाम्बु ।  
संयोगाः सर्वरूपा निखिलजनचयैर्लब्धपूर्वा ह्यनन्ताः,  
संयोगः श्राद्धलोके भवति तु कतिचिज्जन्मभावान्न भूरीन् ॥११॥

सम्यक्त्वाराधनं यद्भवति भवभृतो वर्जयित्वा विराद्धि,  
सप्ताष्टौ जन्मभावान्न परत उदयो यत्ततो मोक्षधाम्नः ।  
एवं श्राद्धैरपि स्याज्जिनमतरसिकैस्तद्धतः स्वस्य योगो,  
ज्ञात्वैतदुर्लभत्वं शुचितरमनसा सादरः श्राद्धलोके ॥१२॥

कुलं सच्छ्राद्धानां सदृशमनघं देवमणिभि-  
र्यथा तान् भाग्याढ्यो भवति नर आराधनपरः ।  
तथाभव्यत्वं स्याद्यदि च परिपाकगतिमत्,  
सुसम्प्राप्तं श्रेयान् भवति जिनमार्गमतिमान् ॥१३॥

यथाऽभव्यानां स्याज्जिनपगदितश्रौतपठनं,  
घने मोहे क्षीणे पुनरपि च तस्मात् क्षपयति ।  
ककारादेः पाठे सुगतिगमनं धर्मकरणात्,

तत्रा स्थाच्छाद्धाना प्रवरतरंजशजनुपा ।  
 रुप्र मोहो जातोऽपत्रलत्रिपभा न स्थितिमित ॥११॥

यथा धाया युप्तान्यनितलमाप्यरुचिर,  
 भवन्तीष्टोत्पत्तौ कृपिकृतिगणैकार्थितमतौ ।  
 समर्थान्यप्येषा पचनविधिसिद्धिस्तु करणा,  
 तदाऽहानेनाप्तात् प्रथमररणान्प्रत इह ॥१५॥

जीवेनाधिगत निमगजनित सम्यक्त्वमात्रौ न चेत्,  
 तज्जायेत सुवीरनिर्मलमते सयोगतद्वास्यत ।  
 श्राद्धाना वरयोगतोऽधिगमज प्राप्ति सुप्तेनास्य च,  
 सशोकधन न कायमुत्पेत् क्वापीष्टसिद्धिप्रप्तम् ॥१६॥

चित्तेभ्योऽपि च जायते जनिभृता सम्यक्त्वमेतत्पर,  
 चित्तानि प्रतिविम्बमन्ततियुतायेनाकिन श्रावकात् ।  
 स्युर्न च तानि सन्ततमिहार्चाया पद जायते,  
 चित्ताना जिनविम्बराजिसजुपा योग समूहोत्थित ॥१७॥

जिनवरागमंपारदशौ मुने', शुचितरागमवस्तुक्रथोदिते ।  
 भवति सद्दृगनुत्तरताश्रितो, मुनिवरागमन समवायत ॥१८॥

समन्ता क्रियो धर्ममग्यो जनानां, स्यु साहचर्यात् समूहे भवेत्तत् ।  
 कुप्रामवास दधता लघु म्यात्, धर्मोद्यतानामपि धर्मनाश ॥१९॥

धर्मो द्विधाऽऽद्य सहकारसाध्यो विचारसाध्यश्च भवेद् द्वितीय ।  
 सामर्थ्यसाध्ये द्वितीयेऽपि तग्मिन्, नोपत्तिरश्रापरिप्रर्धनानि ॥२०॥

शक्तेः समुत्पत्तिरथ प्रयत्नात् , स्थितिश्च वृद्धिश्च ततः प्रसूते ।  
समग्रमेतत्समुदायसाध्यं, मत्वेति कुर्यान् सततं सुसङ्गम् ॥२१॥

प्रबलवरपुण्यतः कल्पनातिगसुखं, साधनैः सह नरं शुद्धमेति,  
प्रचुरतरमोहजः संश्रितो नहि भवेत्, प्राणिनं वृषधरं कृष्णलेश्यः  
( तीर्थमोहः )

सुगुरुचरणाश्रितः शास्त्रशासनयुतः प्राप्नुते जिनमतं स्वल्पयत्नात्,  
अपगतकुर्मकः सिद्धजिनधर्मको मन्यते सुखकरं श्राद्धवर्यम् ॥२२॥

आत्माऽनादित आहितो घनमले मिथ्यात्वपङ्कोद्दुरे,  
नैव ज्ञातमनेन सुन्दरतरं नित्यस्वरूपं निजम् ।  
तत्सर्वं जिनराज एव विमलज्योतिर्भरेणेहितं,  
भव्येभ्य उदयाय तन्निगदितं मत्वा जिनं मानयेत् ॥२३॥

रागद्वेषमुखारिवर्गविलयाञ्ज् ज्ञात्वा समग्रं जगत्,  
स्याद्वादाङ्कितसर्ववस्तुनिकरं भव्याय मोक्षाप्तये ।  
योऽदिक्षद् विनयेपिणे मननभूरूपं स्वरूपं परं,  
जीवाद्यर्थचयस्य तच्छुचिमनाः श्रद्धापथं नामयेत् ॥२४॥

भावा भविष्यन्त उदाररूपा-स्तदा यदा शस्तमना इदानीम् ।  
जीवस्तथाऽसौ शुभशास्त्रसक्ते-स्ततो यतिभ्यः श्रवणं क्रियेत ॥२५॥

ससङ्गश्चेदन्यो रुचिततरवस्तुविषयं,  
स संन्तोष्यो द्स्वा दलितविषयादिवस्तुमननः ।  
स सेव्यः स्याद्भ्यैर्निरुपमविधेः सेवनगतात्, ॥२६॥

दुष्प्राया जगतीह जेनमतिनीं श्रद्धा समस्ताङ्गिभि-

सत्या दुष्करमेव सौम्यमनसा मुक्त्यं समाराधनम् ।

प्राप्तो विनकराणि कर्मदलिकान्युद्वेष्टयेद्भव्यता-

ऽऽम्भार्थान्किमुोहरचमनस स्याद्दुष्कर पालनम् ॥२७॥

चेपाञ्चित् फलभाजनान्तसुभगा श्रद्धा नराणा यत् ,

ससार ध्रमता भयाश्रितिमता विनोत्करोद्भूतय ।

स्वल्पान्येव हि साधनानि मतिमत्ससगसारोद्भवा-

न्येतान्यात्मनलातिरिक्तसहितान्यथप्रदानीह नो ॥२८॥

लभ्येय भवभायतानयता ता नेतरेऽर्हा श्रुतौ,

चित्तामण्यमरन्नुमादतिपरा नेच्छान्तरा सत्कृतिम् ।

लभ्येवेषु भवेन्न चेन्मुधिकया तेषामनाराधना,

तत्साध्य फलमश्नुतेऽत्र तदिवाहच्छासने सद्रुचि ॥२९॥

श्राप्या श्रद्धा सुरा स्यान्निजपरिजनग स्याद्गुणाना समूहो,

मार्गानुश्रायर्त्री मुनिपतिरथिता पञ्चयुक्ता च त्रिंशत् ।

उप्त धाय प्रभृत भवति यदि भुवि शर्कराय न भूरि,

श्राद्धाना भाग्यमेतत् प्रचुरतगुणैर्गोसित यत्कुट्टन्वम् ॥३०॥

ग्या गुणाना सुलभा स्वसत्ता, स्वचन्मन प्राङ्मुनिशस्तरूपा ।

हेतुर्भवेत्तत्र सुभव्यतैत्र, भाग्योदयोऽयहगुणालयेषु ॥३१॥

निजगृह पुनराप्तसुसंस्कृति, यत् भवेत् सुदृताप्रनयने ।

इतरथा तृणपुञ्जसमुद्रम-सदृशमेव न रक्षणयधने ॥३२॥



निजगृहे तु गुणाः स्वजनेः पुरा, यदि भवेयुरुपैति सुरम्यताम् ।  
निजकृतेर्यदि सम्भव उद्धरो, वरतरं त्रिकसप्तमिता गुणाः ॥३३॥

अवास्थ्यकुम्भः शुभवासवासितः, प्रगस्यते प्राज्ञवरैः प्रकामम् ।  
तथैव यः स्याज्जिनधर्मवासितो-ऽवाम्यः कुतीश्र्यैः स वरोऽस्ति  
जैनः ॥३४॥

हृद्वजभागे शुचिसौम्यरम्ये, कुवासनालेगविमुक्तिशुद्धे ।  
लोकोत्तमानां शरणे प्रभूणां, ध्यानं सदा मङ्गलकारकाणाम् ॥३५॥

एतादृशो गुणवतो जिनसिद्धसाधून्,  
धर्म च यो धरति नित्यमरागरोपः ।  
स यः स एष परधर्मगतात् समूहा-  
च्छ्रेष्ठो यथा मणिगणोऽमलकाचजातेः ॥३६॥

विनयवान् श्रुतसारविबोधनः, कृतपरम्परधर्मविरोचनः ।  
शिवपदं प्रति यत्नवतां समा रुचिरतो भवतीह सुनोदनः ॥३७॥

परमतानि कृतेषु गुणान् बहून्, जगति सर्वजनान्निगदन्ति तु ।  
जिनमतं निजरूपमुपानय-त्रकृत आह दुरात्मन आश्रवान् ॥३८॥

यतो व्रतानां निजरूपता तत-श्चारित्रमोहोऽसुमतां विवन्धकः ।  
उक्तानि नान्येन दुरात्मकान्य-व्रतानि मुक्त्वा जिनराजमेकम् ॥३९॥

चारित्रमोहस्य विवन्धकत्वं, पापान्निवृत्तेर्नहि तत्प्रतीतेः ।  
तत्त्वाश्रितायाः प्रतिवन्धकत्वं, रुचेरनन्ताश्रितमित्यनन्ताः ॥४०॥

पापप्रहाणस्य समस्तधर्मे, सुयापस्त्यान् सुरभावसाम्यम् ।  
गुणे चतुर्थेऽच्युतसीम्नि तद्वद्-देशाद्विरक्तिं श्रितवत्यपीह ॥४१॥

भयत्रपाप्मेन यथैव भया , क्रमेण सम्यक्त्वमुत्सान्ययापु ।  
स्थानानि तद्वद्भवितव्यतागुणा-न्मुक्तिभवित्री लघुदीघकालान् ॥४२॥

ततो न दीघेऽमरजीविते वा, लघुन्यपीष्टम्य विलम्बचिन्ता ।  
श्राद्धा द्विधाणुव्रतसहिता वा ऽन्यथा न तत्राऽस्ति मिदा सुरत्वे ॥४३॥

सम्यक्त्वसत्त्वे यदणुव्रतानि, योग्यत्रभाञ्जि परथा न चैव ।  
गीतार्थनागैस्तु यदुक्तमेतत्, त्रसेतराणा मननाद्धि योग्यम् ॥४४॥

गुणक्रमो य प्रतिपादितोऽग्रिमै , स प्राग्गुणाना म्थिरतादिसिद्धये ।  
न चाग्रिमाणा भवितव्ययोगा-दुपागताना विनिपेधनाय ॥४५॥

नित्य सम्यक्त्वशून्या अपि जिनवचनान्घत साधय स्थु-  
प्रवेये देवभाव परिणतिशुचयोऽनन्तसङ्ख्या प्रयाति ।  
सम्यक्त्वावाप्तिहेतुयत उन्निततरा रयायते जीवरक्षा,  
तस्मात्स्थैर्याय सोत्तिर्न तु गुणहतये तत्त्वविद्वेषमेतत् ॥४६॥  
असयत सयतता वदन् यो, मतोऽस्ति पापश्रमणीयमध्ये ।  
शून्य स साधु यनहारपृच्या, तथोदिति सयमिवन्दनाय ॥४७॥

सम्यक्त्वचिद्धानि णमादिकानि, निजात्मनि ज्ञातुमिदं मत्तानि ।  
परात्मनि ज्ञातुमिदं तु धम-रागात्कानि प्रथितानि शास्त्रे ॥४८॥

एव च तत्त्वात्परधमवानपि, स्वाचारमात्रित्य जिनेन्द्रधर्मा ।  
साधर्मिन् त म सा प्रनुध्य-माने न मिद्व्यात्वकणोऽपि भावी ॥४९॥

तथैव योऽभव्यतया जिनैन्द्रधर्माश्रुदे मुद्गशिलासमानः ।  
तथापि शुद्धं मुनिचर्यया मुनिं, वदेन्न तत्राऽस्ति कणोऽचघाप्तेः ॥५०॥

श्राद्धस्य चर्या जिनपस्यह्याज्ञा, धार्या सदा मस्तकमञ्जरीव ।  
जहात्यपथ्यं सुमती रूजातुरो, यथा तथा दर्शनिनो विमित्रान् ॥५१॥

सम्यक्त्वचर्या जिनपूजनाद्याः, करोति संसारसमुद्रसेतुम् ।  
स्थिरा मतिः प्रत्यहमादृताभिः, क्रियामिरस्मात् प्रतिघस्रमुद्धुरः ॥५२॥

आवश्यकपट्टके मुनिभावसिद्धयै, शिक्षात्रतानीष्टदिने विवेचान् ।  
दानं सुपात्रे मलमुक्तशीलं, चित्रं तपो भावममोघमेयात् ॥५३॥ युग्मम्

स्वाध्यायलीनो व्रतभावरूप-प्रमुख्यदर्शिश्रुतरत्तराशेः ।  
सर्वास्ववस्थासु निधानभूतं स्मरेत् सदा पञ्चनमस्कृति च ॥५४॥

श्राद्धत्वशोभावहने प्रवीणः, परोपकारोऽस्ति ततोऽत्र यत्नः ।  
यथात्मनो जीवितमेव कान्तं, तथा समेषामिति तत्प्रदेयात् ॥५५॥

त एव धुर्याः सुजनेषु ये स्यु-गुणान्विताग्निःस्पृहमर्चयन्ति ।  
तदाऽमितान् प्राप्य गुणान् शिवाध्वो-हैशास्तदर्हा न हि किं  
जिनेशाः ॥५६॥

गुणानाधायान्तः सुजनसमुदायो गुणिजनान्,  
गुणाप्युद्देशाच्चेद्भजति नितरां वै समुचितः ।  
ततोऽर्हेन्तौऽर्च्याः स्युर्जिनपतिगुणानां स्तवनतः, ॥५७॥

देवो धर्मो जीवमुख्यार्थसत्त्वं, जीवे न स्यान्नैव स्वज्ञानगम्यम् ।  
अज्ञातेऽस्मिन् साधनं तत्फलं च, नैव स्यात्तत्सूरिरर्च्यो बुधानाम् ॥५८॥

धर्मान्कार्यं मुसहायनिष्ठ, सहायका घमपरा सत्त्रै ।  
अनेकभेदा विदधीत भक्तिं, कुटुम्बिलोकान्धिनाथनारिणाम् ॥५९॥

मनोऽनुसृत्याऽध्ययसायभावो-ऽन्येषा मनोवर्जितजातिकानाम् ।  
तदन्यथात्वेऽपि ससाधने नरे, भवेत्प्रवृत्ति सकला समाधना ॥६०॥

मात्रश्च कायेन तदीयवर्गा-नादाय निष्पाद्यत आत्मरूपम् ।  
फायश्च जीवस्य गृहीतमन्धो-ऽनुसृत्य तद्रूपभगो यत म ॥६१॥

मुसाधुरत्न नयहीनराद्ध-मशुद्धमत्त्वा स मुमोप गेहम् ।  
धान्ते गृहेश सममार्पिपत्त-दन्ने प्रजग्वे किमु नीतिहीने ॥६२॥

चैत्यारम्भ प्रवरतरफल श्राद्धवशस्य फाय,  
तन्नाद्रज्य भवति च वनक नीत्यनीत्यो प्रकारात् ।  
तत्राऽऽरम्भे द्रविणमाय यस्य तत्तस्य देय,  
सङ्घम्याग्रेऽणुकनत्रिपये वान्यमेतस्य सोऽर्थ ॥६३॥

गहस्पधम प्रवर हि दान, न्यायागत तत्प्रथम निरीक्ष्यम् ।  
श्रद्धाव्रमाद्या सुफलास्तदा स्यु द्रव्येण शुद्ध धन्नि दानकार्यम् ॥६४॥

भागो हि दाने फलदानस्य , पर न सोऽन्यायपथात्पराणाम् ।  
समन्मेतन्मनसा विचिन्त्य, कुर्यात्सौ सद्व्यवहारशुद्धिम् ॥६५॥

न हिस्त्रवृत्त्या न च कूटमाक्ष्यान्न चौर्ययोगात् न च वज्रनेन ।  
यद् द्रव्यमात्त न क्लोत्त्रमात्म्या-हाभक्तमो यत्र न लङ्घित  
म्यात् ॥६६॥

लोके श्लाघा शासनन्योत्तमा स्याद्-यद्वच्छुद्ध्या नो तथाऽन्यैः  
सुकार्यैः ।

तिर्यग्देवास्तीर्थकृद्दानहेतो-श्छिन्नोद्वंशादानयन्तीह हेम ॥६७॥

पत्तने पटुतरो धर्ममहिमाऽसमोऽशेषजैनेन सत्वरमुपेयः,  
धर्मगात् पटुतरात् मानमहिमादृतात् शेषकार्येण नो सुघटतेजाः ।  
भावनानां पटुतरीं लोकसमुदायजन्यां कर्तुमर्हेण जैनमतजातां,  
स्यन्दनो वरतरो देवतरुसन्निभो भ्राम्यते दानकीर्तिपरगानः ॥६८॥

श्रीशत्रुञ्जयरैवताचलगिरिप्रोद्यत्प्रभावार्जुद-

जीरापल्लिसुवर्णसानुसहितः सम्मेतशैलोऽञ्जनः ।

यात्रैषां करणीयतापदमितः स्याद् दर्शनं यद् दृढं,  
तीर्थेशादिविहारनिर्वृतिमुखोदन्तावलेः संस्मृतेः ॥६९॥

श्राद्धः सर्वजिनेशशासनरतः सूत्रोक्तमेकं पदं,  
संसाराम्बुधितारणेऽसमफलं द्वारं नरामर्त्यशम् ।  
एकं शाश्वतसिद्धिधामगमने सामायिकं प्रत्यलं,  
मत्वेत्यात्मनि शान्तिमुद्धरति संवारप्रवेकोन्मुखाम् ॥७०॥

दोषा ये क्रियया भवन्ति भविनां कष्टप्रचायोन्मुखा-  
स्ते सर्वे सुनया विरुद्धकृतितस्तस्याः पदोन्मार्जनान् ।  
दुर्वाक्रयाज्जिनरागगीतपदतोऽर्थानां प्रलापोत्थितात्,  
संसारे भ्रमणं गतान्तमिति वाक्चेष्टां श्रुतोक्तां सरेत् ॥७१॥

राजा रक्षति रक्षणीयपद्गां स्वीयां प्रजामादरात्,  
तत्साधनमिदमित्यवेत्य जनता तां गोधनेनाञ्चिताम् ।

जीवम्यास्ति विकम्पन पर इति प्रासोद्यतास्त्रायते,  
पट्काया परिरक्षणीयपदगा जन परो मन्यते ॥७२॥

शास्त्राणां विधियान्यराशिरधुनत्पापप्रतानोदय,  
यत्सङ्हरयागतमानमेय इह तद्नाम्य सकृत्तुक्तियुक् ।  
ताभ्या यन्न निवारित पदमधो वान्यै सहस्रैग्मद्,  
ऋष्टान्तप्रतिदर्शनात् क्षणमियात्रान्द्रय सद्गति ॥७३॥

मत्सैव वरधर्ममागनिपुण श्राद्ध पर सप्रसेत,  
प्राप्ते यत्र जिने द्रचैत्यततय स्यान्चागमस्त्यागिनाम् ।  
निष्णा वमत्रिधौ च जैनमतगा क्षेत्रे गतोपद्रवे,  
मत्र स्युर्गुणराशय फलधरा सत्स्थानकात्तच्छ्रुतात् ॥७४॥

श्राद्धस्य जन्ममरणोज्झितमेव धाम,  
प्रार्थ्यं, न तच्च दमनेन विनेन्द्रियाणाम् ।  
चारित्र्यमेव पटु तत्र तदा स्वतन्त्र-  
स्तत्कारके सुवद्मानयुतश्च मद्घे ॥७५॥

गुणाय यत्स्याज्जिनराजमार्गं, पूज्य तदेवेति सुपुस्तकानाम् ।  
पूजा यन्न्यन्नहि साधन स्या-त्कलौ गुरूणा गुरुरेष तद्वत् ॥७६॥

आराधनेन जिनपादिगणस्य मुक्ति-  
राराधन च परिणाममनुप्रधानम् ।  
भवेन्नुभ सोऽनुसरन् क्षणालिं,  
चधाथशक्तिं प्रतनु क्षणांस्तत् ॥७७॥

यथार्थं श्राद्धत्वं भवति भविना शास्त्रगदितं,  
 जिने ज्ञानाद्यर्थास्तत इह विधेया बहुमतिः ।  
 न विघ्नानां भावो गुरुगुणसपर्या विदधतो,  
 महादानं नित्यं भवति गदिता चिद्वतनिरियम् ॥७८॥

चर्यामसौ नित्यमुदारबुद्ध्या-ऽहोरात्रिकीं श्राद्धगणोचिता धरेत् ।  
 न चेत्समेतो मुनिभावमन्त्ये, संलेखनामुत्तरसौख्यदामयेत् ॥७९॥

जैनोऽसौ वरधर्मकर्मकरणेऽनन्योपकारक्षमं,  
 मत्वा श्राद्धवरं तनोति नियतं तस्य प्रभावप्रथाम् ।  
 सद्धस्यापि चतुर्विधस्य नितरामाराधने स प्रभुः,  
 कर्ता कारयिता प्रशंसनपरस्तुल्यास्त्रयोऽप्यार्हताः ॥८०॥

इति एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

। त्रिंशोऽध्यायः । ( श्राविकाधिकारः )

जैनोऽसौ मनुते समस्तजिनपैर्मोक्षं वरेण्यं पदं,  
 गन्तुं येऽसुभृतोऽर्हतां निजगतां सन्धारयन्तो मताः ।  
 तेषां यो भणितः सुकर्मकरणो वर्गः शुचिर्योपितां,  
 तं नित्यं शिवधामसाधनपरं पूजास्पदं भक्तितः ॥१॥

श्रद्धाऽनघा शासनगा सदाऽस्याः, श्राद्धीतिशब्दो न पराप्तसङ्गात् ।  
 धात्वा युवत्योहिजराविजीर्णाः, श्राद्ध्यास्तु वर्गो जिनपैः प्रशस्तः ॥२॥

स्ववर्णगर्णेण यथा जनानां, म्लेच्छीकृता कोटश्रधिका जनानाम् ।  
द्विजैस्तथा ण्णिसनै स्ववेत्त-भार्येण चोपा प्लविता शिवाप्ते ॥३॥

न जैनमार्गे शिवासाधनाया, वणम्य वैदम्य त्रिशेषवार्ता ।  
श्रेण्या क्षपण्या श्वपयन्ति वेदा-स्त्रयोऽपि मोहभ्रमणे क्रमेण ॥४॥

भायो हि जीवस्य शिवाप्तिमार्गं, म्यात्कुत्मितो रोद्धुमल, न चान्यत् ।  
पञ्चेन्द्रियत्वप्रसुग तु साधन, म्यात्साधको भाव उन्तररूप ॥५॥

यथा मुनीना प्रवह शिवाय, प्रवर्त्तमानो गृह्णिर्गयुक्त ।  
तथा श्रमण्योऽपि शिवाप्तिहेतो-रीर्यत्त युक्ता स्वकसेविकाभि ॥६॥

श्राद्धयो गृह्णिय सकल तु कार्यं, गृहाश्रित नित्यमुपाचरन्ति ।  
जग्धौ च पाने च गृहाश्रितानां, जीवायनात्कर्तुमभूयदीशा ॥७॥

रत्स्वीचरारोद्धहनेन पत्यु-मन्दर चायद्भवमाश्रयेद्ब्रह्मम् ।  
शय्या न पत्युयदि नैव लब्धेन्, परं सहस्रा शरतो दिप्रिम्यात् ॥८॥

विना तात बाल भवति वनिता पालितु (रन्वितु) मल,  
विधायायेपा तु प्रवरधनिना कण्डनमुखान् ।  
विना योपा गाल भवति न हि रक्षणविधौ,  
क्रियन्बाल जीवेदपरवनितारश्रितभर ॥९॥

अत स्त्रीणा प्रोक्त घतमनुलित स्वेतरनरे,  
सदा धाय ब्रह्माऽपरपुरुषमीक्षेत न दृगा ।



स्त्रिया भूया शीलं कुलमपकलङ्कं च भवति,  
सुशीला यत्रैतास्तत उदितशीलाः स्त्रियः उमाः ॥१०॥

यदा शुद्धं शीलं भवति वनिता पत्युरुदितं,  
प्रतीतेः पात्रं यद् धनकुलसुतादिप्रद इह ।  
भवेत् स्वामी प्रेते भवति वनिता वंशवहनी,  
ततः पाल्यं शीलं चरितमुदितं प्राक्तनमुजेन ॥११॥

भवान्निधिसन्तारणयानतुल्यं, दानं सुकृत्येषु परं सुकृत्यम् ।  
अस्य विधानं महिला विदध्युः कथं न तासां भवन्नार्धिपारः ॥१२॥

मध्याह्नकालः प्रवरो मुनीनां, मिक्षाभ्रमस्यागमसम्मत्त्वात् ।  
तदा च दानप्रसवो हि धर्मा, भवेद् गुहावृत्तितयाऽङ्गनानाम् ॥१३॥

त्रिसन्ध्यं जिनेर्चा विधातुं समर्था, महेला यतः कालसुसाधना सा ।  
खरः सन्दधात्यर्धदग्धो निषेध, महेलाऽस्ति योग्या श्रुतोवत्या न  
मिथ्या ॥१४॥

मुक्तेर्निषेधं ललनागणस्य, दिग्वाससश्चक्रुरुदाररूपाम् ।  
जिनेन्द्रपूजां न तु मुक्तिसाध्यां, खरस्तु मूलप्रविणाशदक्षः ॥१५॥

प्रभाते शय्यायां पठति परमां पञ्चपदनति,  
विमुञ्चन्ती निद्रां यदि च निजकं स्याच्छुचिवपुः ।  
स्मरन्ती तां चित्ते यदि च तनुकं स्यान्नहि शुचि,  
ततश्चित्ते कुर्यात् कुलममलिनं धर्मपरमम् ॥१६॥

चैत्यं ततो गेहगतं प्रविश्य, नैपेधिकीमुख्यविधिं विधाय ।  
कुर्याज्जिनेन्द्रार्चनमात्मलाभ - प्रद्योतनं पुष्पमुख्यैः सुद्रव्यैः ॥१७॥

स्तुतिस्तोत्रे स्तौति प्रसितममलेऽहन्तमतितमे,  
गुणाना सङ्घाते जनिमुनिशिवाप्यान्जिते ।  
गृहस्थानामेपोऽमितगुणरुरो भावमतिगत  
सप्रस्तेनाजस्र प्रिनयसहिते स्तौति गृहभाग् ॥१८॥

प्रत्याग्याय निजात्मशक्तिनियत प्रातस्त्यमादौ यम,  
सङ्घप्राकृतमर्हतो गृहमितो यात्वा विशेष सा विधे ।  
कृत्वा चाचनमर्हता बहुत्रिधै पुष्पादिभिर्भावत ,  
प्रत्यास्याय च निर्गता गुरुमुखाञ्छास्त्र शृणोतीष्टदम् ॥१९॥

आगत्याऽऽलयमाचरेद्विधिपरा धर्माङ्गान मुदा,  
यद्वा भाननधारण वितरतीशे साधवे दातरि ।  
धुर्यात्पीपधपारणेऽपि यदिद पम्भुन्यते दीपवज् ,  
जैने शासन एष नो ऋणगतो न्याय कदापीष्यते ॥२०॥

धान्येन्धोऽम्बुविशोधने निलयगा सर्वत्र रक्षापरा,  
दुर्थात्कार्यमपात्रपापरहित प्रेत्यात्रतार हृदा ।  
अग्रे कृच्य मुदृयदुष्टृतिफल नो प्रिसरेषित्तत ,  
धाद्वशेषा द्वयमानुते सुप्रकर कीर्ति परत्रामरम् ॥२१॥

तार्थाना विधिधाहृदादिमहिमाढ्याना जनु पावनाद्,  
यात्रा मत्कृतिसयुता भवतरी कार्याऽऽप्य सत्साधनीम् ।  
सम्पत्तिं सहचारतत्परजन चाथस्य सिद्धौ फल,  
ज्ञेय, षष्टमरार्जितोऽरनिचयो दाताऽन्यथा दुर्गतिम् ॥२२॥

धम म्याऽ प्रभुगासनोन्नतिर सत्यापितो जन्मना,  
दा चेन्निरघ त्रिधाच त्रिधिवन्टील धृत निमलम् ।

पूर्वोपार्जितपापपङ्क्तिविलयेऽसाधारणं कारणं  
तप्तं दुष्करमुद्धृतिकरतपो भावं च भव्या धरेत् ॥२३॥

या श्रद्धाभरसंयुता, जनगणो चां संस्तुते शीलतः,  
वंशौ द्वौ विशदीकृतौ सुकृतितः सज्जन्मवत्या यया ।  
यस्यै धर्मपरः सदा नतिपरो, यस्या गुणानां व्रजः,  
सङ्घे सञ्चरते मतिश्च तरुणा जायेत यस्यां यशः ॥२४॥

नारी यद्यपि निन्दिता श्रुतधरैर्वाक्यप्रबन्धोद्भुरैः,  
स्थाने स्थान उपोढसन्मस्तिभरैः सा नैव जातिद्विषा ।  
किन्त्वेतैः पुरुषप्रधानमतगं संश्रित्य वाक्यव्रतं,  
स्त्रीश्रित्य निरूपणे पुरुषगा सैवाहता पौरुषे ॥२५॥

स्याद्वादो जिनराड्मतेऽप्रतिहते दोषैर्गुणैः संश्रिते,  
सोऽनेकान्तनिरूपणेन सफलः सर्वामपेक्षां दधत् ।  
नास्त्यत्राश्रयता स्त्रियामघततेः सम्पत्तु सम्पद्गते-  
हीनो दोषगणेन ऋद्धिवरको नैवेति नो मन्यते ॥२६॥

साधून् यथोद्दिश्य जिनेन्द्रमार्गे, दोषाः श्रमण्याः प्रतिपादिता बुधैः,  
त एव साध्वीव्रजसङ्ग्रहे स्युः, निर्ग्रन्थवर्यान्पि संश्रिता हि ॥२७॥  
कामः स्त्रिया यद्गुणितश्चतुर्भिर्-नरात्तदेतत्पृथगस्यपेक्षया ।  
ज्योतिस्त्वृणानां झटिति प्रजायते, निर्वाति चेत्थं न च फुम्फुमेपु  
( कारीपेषु ) ॥२८॥

स्फुलिङ्गसंयोजनतस्त्वृणानि, ज्वलन्ति घट्टादियुताग्नितोऽपरः ।  
शाम्येच्च ताणो द्रुतमेव नान्य, इति प्रबोधात् स्मरकारणं त्यजेत् ॥२९॥

साधुप्रानाना न चतुर्थयामो-ऽपवादभूर्यत्करण न तस्य ।  
रागद्विपौ चेत्स नरात्मनस्त-ञ्जचाङ्गनाना स गतापवाद ॥३०॥

इत्यस्ति शास्त्रे मिथुने श्रमण्या, द्रव्ये, न भावे भवनस्य सम्भव ।  
हठप्रकारस्य यदस्ति तस्या, सुसम्भवा नैत्र तथा सुपुस्तु ॥३१॥

अत प्रयत्नात् स्वयमादरेण, घृद्धादियत्नेन सुरक्षितत्वम् ।  
शील स्वयशस्य वर हि जीवित, मत्वेति शील परिरक्षणीयम् ॥३२॥

अत कवीशै सुकलत्राशे, यथा सम घोषितमेति सत्यताम् ।  
नाशो गृहस्येतरजन्मनाशे, घुष्ट तथा नो कविना जनेन ॥३३॥

यथा हि शस्यस्य धरानुमत्ति-स्तथा न कप्यद्दसमीरणानाम् ।  
अनुश्रितित्तद्वदिहाङ्गनाना, सस्कारवृत्ति सकले स्वयशे ॥३४॥

शरीरतत्त्व रुधिरानुसर्त-रक्त च नार्यागतमेव मूलात् ।  
मानुप्रसूते तनुतत्त्ववेत्ता, परीक्षते ह्यस्त्रमिण विवादे ॥३५॥

यस्मान्माता प्रसूते शिशुमनघपद तेन सा भीतिमाप्ता,  
सत्पुत्रादीन् 'जगत्या प्रचुरगुणगणे गार्गिमातेति काये ।  
शास्त्रे रत्नप्रदीपप्रवितरणकरा रत्नकुक्षिर्नमस्या-  
ऽऽराध्या सा सर्वलोके त्रिभुवनपतिमिरानिरम्पेति सोक्ता ॥३६॥

ख्यातो जिनेन्द्राऽऽगम एष शब्द , स्त्रिया च यद्वत्पुरुषेऽपि तद्वत् ।  
जिनेन्द्रवाक्यादिषु सुष्ठु दवा-दनुप्रियेति प्रयुतो न भिन्न ॥३७॥

सद्भ्येऽपि सम्बोधनमेतदेव, श्राद्धी तथा श्राद्धगणो मिथस्तु ।  
देश-पूर्वं हि पद तत्रैव नार्या न तस्मात् क्वचिदप्यघस्तम् ॥३८॥

सर्वाङ्गिकीं कोऽपि करोति भव्यः , समस्तसङ्घे परमादरेण ।  
सर्वत्र कुर्वन् प्रथमं द्विधा स्त्रियां, विशेषहीनं सधवाधवाग्राम् ॥३९॥

श्राद्धीनां स्याद्धर्मक्षेत्रेऽमलत्वं, कुर्याद्येनोद्वाहकालेऽपि पूजाम् ।  
धाम्यो महिमाऽनून एपोऽपि तादृक्, पापारम्भे साधयेद्धर्ममादौ ॥४०॥

मतिर्या भवान्ते गतिः साऽपरत्रा, वाण्यत्र प्रेत्यास्ति समानलेख्या ।  
च्यवे भवे चेति विबुध्य सर्वा-नार्त्तान् सुनिर्मापयितुं यतेत ॥४१॥

आराधनां निर्मलभावपूर्णा, चतुःशरण्या शुभपापकर्मणोः ।  
प्रशंसया निन्दनया च भावात्, स्वान्यातुरत्वे हि करोति वर्याम् ॥४२॥

यथा परैः प्रेत्य सुरालयानां, मुक्तेश्च गीतः परिदायकत्वात् ।  
महेश्वरः सर्वजनोपकारी, मिथ्येयमाराधनकारिका तथा ॥४३॥

यान्ति प्रशान्ताः प्रसुभक्तिवाणी-प्रणोदिताः स्वर्गपदं शिवं वा ।  
तत्कारिका किं नहि कारिका हि दुग्धान्न किं म्रक्षणसर्पिराप्तिः ॥४४॥

कुर्वन्ति वैवाहिकमत्र पुत्र-पौत्र्यादिकस्य निजवान्धवः ।  
तथापि तच्चण्डक्षतिनिवृत्त्यै, नीतौ स्थिताः स्वर्गशिवाप्तियोग्याः ॥४५॥

तथाविधानीति पराभवेयुः, सत्कर्म कर्तुं शिवमार्गमेतुम् ।  
अतः स्वकीयं कुलवंशयुग्मं, पुरा हि रक्ष्यं सुधियेति गीतम् ॥४६॥

यथाऽऽर्यदेशः सुजनोपकारकृत्, सङ्गं विधायार्हत्साधुचैत्यैः ।  
वंशः कुलं वा मतिभाववत्यपि, विधाय तैः सङ्गमिहोपकारी ॥४७॥

दत्ता धुले यत्र स्वसा च पुत्री, धर्माऽपि तत्रत्य उपासनीय ।  
तत सदाचारभ्रान्तराणा, रक्षार्थिनी ता न परत्र दद्यात् ॥४८॥

अत्रत्यवैतल्य उपागते म्या-द्वयथैहिनी धर्महतेऽन्यभाविकी ।  
आद्याऽन्पकाल परथा परा तु, विरुधेऽन्यत्रितये न दद्यात् ॥४९॥

यथानुराग आत्मन प्रस्वान्ततोऽधिकोऽस्या निजपुत्रवग ।  
भिन्न तु धर्मऽधमस्य सश्रयो, नीचैस्तरा वृत्तिरत्रोधमोहिनी ॥५०॥

सिद्धाद्रिप्रसुरप्रशान्तगिरियु प्राप्ता परा कोटय-  
स्तस्वप्नेऽपि न याति सम्भ्रमपद येषा न श्रद्धाऽनघा ।  
मोक्ष किन्त्विदमात्मप्रशसहजा सस्कारवार्तामति-  
थेषा ते सुतरा त्रिधाय सुमतिं तीर्थानि तानि स्मरेत् ॥५१॥

आद्या सिद्धा समग्रे भवभ्रविगमावाप्तमोक्षालये या,  
साम्प्रत्या जैनमार्गेऽप्रसृपितिसुपमदुष्पमाया जिनाम्बा ।  
नैराऽऽसीत्तत्र तीर्थं निनगुणमहिमोह्लासितात्मप्रभारान्,  
मत्त्वैव स्वात्मशुद्धयै जिनपतिप्रचनाच्छ्राविकाणा प्रयत्न ॥५२॥

वर्गं श्राद्धथा प्रणम्योऽविचलसुमतिधमकार्ये सदोक्तो,  
देवानामप्यचाल्यो बहुतरविधिमि सयभादाप्ततत्त्व ।  
तत्रास्ति ज्ञातमग्न्य चरमजिनपते नागभार्या प्रवेका,  
सम्यक्त्वे देवतुष्टौ जिनवरशिरगे शुद्धसत्याऽप्रदृष्टि ॥५३॥

समग्रो नगर्या जनो भ्रान्तिमाप्त , यदाऽमजिनेशस्यागम कर्तुमिष्ट ।  
स एवाग्रह प्राप्तजनार्चनादि, न मुग्धा सुसम्यक्त्वधरा न याता ॥५४॥

जम्बूस्वामिन आप्तसुन्दरवराः प्रेयस्य आप्तादरा,  
 अष्टापि प्रवरां व्यधुः समगतां तत्कृत्यकृत्योद्यताः ।  
 यातेऽस्मिन् मुनितां स्वयं गतमदाश्चक्रुर्मुनित्वं परं,  
 जाताः संयतमार्गसाधनपराः श्रीचन्दनायाः पुरः ॥५५॥

श्रीवज्रप्रसवितृसंयमकथां लोकात्ततश्चागतां,  
 श्रुत्वा श्रीधनगिर्युदारचरितां वज्रे सुनन्दा वरम् ।  
 जातं वज्रप्रभुं ददौ लघुतरं पण्मासमात्रं शिशुं,  
 तां को न स्तविता जिनागमरुचिः श्राद्धीं परं पावनीम् ॥५६॥

श्रीहेमचन्द्रं प्रभुमार्पिपद् या, श्रीदेवचन्द्राय मुनीश्वराय ।  
 भर्तुः सुकृत्यं परमं विदन्ती, श्राद्ध्या अहो वा स्वमतीत आदरः ॥५७॥

श्री वस्तुपालाग्रजतेजपालं, प्राप्तं निधानं खनितुं विचित्तम् ।  
 दृश्यं जनैश्चौर्यकृतावनर्ह धेयं तथेत्युक्तमलोभपत्न्या ॥५८॥

श्राद्धी सुभद्रा जिनमार्गमोदा, जलेन द्वारत्रितयी पुरस्य ।  
 सतीत्वभावस्य महाप्रभावं, जनेषु जनयन् पुनरुद्घटित्री ॥५९॥

राज्ञा सुशीलो महिषीप्रदत्ता-भ्याख्यानयुक्तो हननाय युक्तः ।  
 सुदर्शनो रक्षित आर्यधृत्या, श्राद्ध्या स्वकीयाचलधर्मभावात् ॥६०॥

श्रीरेवती नाम जिनस्य बद्ध्वा; भावी जिनो तीर्थपदानशक्तेः ।  
 निर्णाय को न स्तविता जिनानु-यायी वंशं श्राद्धपथोन्मुखां स्त्रिम् ॥६१॥

शाही अकञ्चरमुदारमति दयायां,  
 लीनं न वेत्ति जिनशासनतत्त्ववेदी ।

सर्वाऽयसौ समभवत् प्रभुहीरनाम्ना,

मूल तु तस्य तप आऽतिश्चम्पिकाया ॥६२॥

भवेत् प्रतिष्ठा जिनत्रिम्वराज्या , प्रभुत्वभात्र यदिय विदीपयेत् ।

सर्वाङ्गशुभापि न पूज्यतापद, श्राद्धथा युतोऽस्या(न) त्रिधायको

धव ॥६३॥

चैत्ये च यत्रापि जिनाकृतीना, पटे प्रतिष्ठापनमाद्रियेत ।

तत्रापि तासामधिकारभात्रो, विशेषतश्चात्र विनामनाविधौ ॥६४॥

या सद्धया अत्र विमाननाविधौ, समाद्रियन्ते न च ता अतीयु ।

दु एानि दौर्भाग्यभवानि कान्यपि, यात्रद्भव शांतिमुखान्युपेषु ॥६५॥

यद्यत्प्यनीशै सत्कारलेश , शरीरशोभावहको न्यपेधि ।

तत्सत्कपोपस्य निपेधनात् पर, तीर्थात्रितौ किन्तु स सेवनीय ॥६६॥

यदेव कर्माश्रयणाय छृत्य, ससारहेतोरघनिजराय ।

तदेव धर्मात्रतिकार्यहेतो-यदाश्रवास्ते हि परिश्रया यत् ॥६७॥

जिनाधिपाना रचिराणि यानि, दिनानि कल्याणवराङ्गिनानि ।

ण्णागनामारि-रथोत्सवैश्च, श्राद्धीजन गोभयतेऽङ्गचीरै ॥६८॥

कल्याणकेषु प्रमरा न पूजा, श्राद्धीजनो वाऽपर आहत मन् ।

निनेश्वराणामत्रिधाय घस्त्रे-ष्वन्वेषु कुर्वन् भक्त्युदार ॥६९॥

चत्वार उक्ता श्रमणप्रधाने, सद्ध्ये त्रिभागा परमप्रगामी ।

कार्येषु धमप्रवरेषु यग , श्राद्धथो यतो भूरितमा सुयन्ता ॥७०॥

गृहेषु धर्मीय उगारभाव , प्रवर्तते तत्कृत एव भूरि ।

समानि कार्याणि तदुत्थमत्या, धर्म हि जनेश्वर आदरेण ॥७१॥



श्राद्धयश्च देव्यश्च न विभुत्ववत्य—स्तथापि साम्येन नयन्ति सर्वान् ।  
श्राद्धोश्च देवाँश्च जिनोक्तधर्मं, स्वयं दृढाः कुर्वते धर्मरक्तान् ॥७२॥

यथा परेषामधिकारिता नहि, गृहे च धर्मं व्रतमुख्यकेऽपि ।  
तथा न जैनेष्विति सर्वधर्मोऽत्यासां समो ह्येवमतोऽधिकारः ॥७३॥

नासां धर्मो वंशजात्यादिरुद्धो, यद्धर्मोऽत्राराधनीयः स्वभावात् ।  
आत्मार्यं तद्वारयन्त्या नितान्तं, गीता तीर्थ्यैर्निन्दयित्वा न्वनर्हा ॥७४॥

जैनः स स्यान्मातृवर्गेण तुल्याः, सर्वाः श्राद्धीर्मानयित्वा महेशः ।  
मोक्षार्हायाः सप्तक्षेत्र्या विभेदं, चित्ते नैव सन्दधीताचलेक्षः ॥७५॥

इति त्रिंशोऽध्यायः ।

। एकत्रिंशोऽध्यायः । ( देवाधिकारः )

जैनः स एवार्हतधर्मधारी, यको भवान्धोरवनोऽर्हताऽभूत् ।  
नास्त्यन्यधर्मप्रवणो जनेऽस्मिन्, पुनातु देवो भवितो जिनोऽर्हन् ॥१॥

कालादनादेर्निजभ्रयतायाः स्वरूपमन्यासदृशं दधानः ।  
यथाऽऽम्रवृक्षः स्वकजातिवीजात्, पुनातु० ॥२॥

भवस्थरूपे भववालकाले, जहौ न तादृश्वरभावसत्ताम् ।  
मलीमसं स्वर्णमयो विभिन्नं, पुनातु० ॥३॥

तथा तथा कालविवर्तसङ्ख्या—तीतं भवाब्धौ परिवर्त्तमानः ।  
तुल्यं परैः कालभवानतुल्यः, पुनातु० ॥४॥

यथा महामानुतलाद्बहन्त्या , सुवाहिनीश्रोतसमान्धत्या ।  
चिन्तामणिर्नापल्लवृन्तुल्य , पुनातु० ॥ ॥

परोपकारप्रवर्णकचेता, निरद्धथ कश्चिज्जिनकर्म जीव ।  
गतोऽन्यजन्मानि वराणि तानि, पुनातु० ॥६॥

नष्टे तु तस्मिन्नपतीर्यपत्ने, भवेज्जनाना प्रवरा गतिर्ना ।  
धान्ता सुधा नैव गुणाय लेशात्, पुनातु० ॥७॥

पर तथाभग्नभय जिनत्व, वर न उद्ध वमतीह कश्चित् ।  
पयो ददाना सुरभिन चाभा, पुनातु० ॥८॥

जिनेन्द्रनामार्जितमन्यथा वा, निकाच्यतेऽन्त्ये भयने वृतीये ।  
अहच्छिवाप्तादिपदेषु भक्त्या, पुनातु० ॥९॥

जिनेन्द्रनामन्येवमुपार्जितेहि, तिर्यक् पद नेव कदापि गच्छेत् ।  
पराथकामी न भवेद्धि तिर्यक्, पुनातु० ॥१०॥

यथाऽऽगमिष्यन्नपभोगभाव, रत्न न वार्धेस्तलगाकरे म्यात् ।  
नोत्पद्यते भाविजिनोऽसुरादिषु, पुनातु० ॥११॥

स्वप्नप्रलम्भो न मनोऽनुसारी, यस्यागमे कुशितले सपित्री ।  
पश्यत्यपश्य चतुरचितान् दश, पुनातु० ॥१२॥

हस्त्यादिका नानुगतिहरीणा, सप्तस्वपीष्टेषु भवेत् प्रलम्भे ।  
गजादिका ह्यग गति प्रधाना, पुनातु० ॥१३॥

जन्मक्षणे शक्रशतावलीद्ध, चकार मेरौ नियतामिपेचनम् ।  
पद्भ्युत्पञ्चाशदपि कुमार्य , पुनातु० ॥१४॥

यस्याम्बिकाबुक्षिरपेतपङ्का, जम्बालमुक्ताऽप्रकटोद्भवाङ्का ।  
सुरासुरश्रेणिशतेन वन्द्या, पुनातु० ॥१५॥

जन्माभिषेकेऽचमराचलेऽगुः ; सुरासुरावीश्वरकोटयो मुदा ।  
अष्टप्रकारार्चनमावि(द)धातुं, पुनातु० ॥१६॥

वाल्ये न मातुर्विदधाति पानं, स्तन्ये सुराधीशशतेन नीताम् ।  
सुधामपादङ्गुष्ठगां मुदाढ्यः, पुनातु० ॥१७॥

चकार चेष्टां लघुदीर्घनीत्यो—रुरोद वाल्ये न महेश्वरोऽयम् ।  
वंशे महेन्द्रैः कृतराज्यवृद्धौ, पुनातु० ॥१८॥

परैर्न येषामवकल्प्यता स्याद—तिशयोस्त्रिंशतमाश्रिताः समम् ।  
चतुर्भिरार्हन्त्यपदोदितास्ते, पुनातु० ॥१९॥

क्षेमाय विश्वस्य विधाय दीक्षां, जित्वोपसर्गांश्च परिपहॉश्च ।  
निर्मूल्य घातीन्यखिलानि सर्वविद्, पुनातु० ॥२०॥

प्राग्वद्धतीर्थकरनामकर्मणो, द्विधोदयोऽर्चाश्रमणादिसिद्धया ।  
द्वितीयमार्हन्त्यपदेन देशना, पुनातु० ॥२१॥

यद्दीक्षितानां भवतीह याव—तीर्थं प्रवाहो न नवोऽपरं विना ।  
भाग्यान्तु भव्यत्वयुतात् स एव, पुनातु० ॥२२॥

तीर्थं द्विधाऽगारपराश्रितं दिशन्, कार्येण युक्तं शुचिकारणेन ।  
जनाः प्रभूताः क्रमसिद्धिसाधनाः, पुनातु० ॥२३॥

वर्गद्वयेऽपीष्टपथानुसार—स्ततश्च साधून् गृहधारकॉश्च ।  
नुनोद् धर्मार्थमरक्तदोषः, पुनातु० ॥२४॥

कायन्निणो नैत्र महौंल्लघुर्मा, सत्साध्ययुक्तस्त्वप्रधीरणापन्म् ।  
 घतुर्विध तन्नमतीह सद्घ, पुनातु० ॥२५॥

दृग्ज्ञानकर्माश्रयरोधयुक्त, मार्गं सदा श्रोतृगण दिदेश ।  
 तदुत्तितो मान्यपन् हि तीर्थ, पुनातु० ॥२६॥

अहंत्त्वमुरयजितससृत्तिकान्तभावा-  
 त्रिंशत्परास्त्रयधिकसयुज आप्तयोग्या ।  
 तीथप्रयतनविधौ सतत स्वरूपा-  
 दहन्पुनातु सतत भविनो भग्रात्रे ॥२७॥

अहत्त्वनाम्न उच्य फलतो जिनत्वे,  
 पूज्यनेरुजगिषु प्रविचिन्तितोऽन्त ।  
 अन्त्ये गुणे हि भग्नान्न तनुक्रियाया, अहन् पुनातु ॥२८॥

यत्कमज फलमिहाचनमहत स्यात्,  
 तद्याददेय भग्न इत्यपयोगितायाम् ।  
 देवै कृत सप्रतिहारमयोगिभात्र-महन् पुनातु० ॥२९॥

तीथप्रवृत्तौ सकलातिशेषा, अहंत्त्वमुरया जिनपात्ममस्था ।  
 पूजा (वृक्षा) दिक्सास्त्वन्त्यक्षण त्वराप्य, पुनातु० ॥३०॥

मुक्तेरवाप्तौ द्वितयी ध्रुव म्या-दुत्सङ्गपर्यंक्रमयी दशा तु ।  
 तेन प्रतिउन्ददशाद्वयी तत्, पुनातु० ॥३१॥

जगजनि-स्थेम-ल्यै प्रवञ्च्य, जगान्न तेषु प्रभुता दधाति ।  
 मोश्याध्वदीप्ते प्रभुता दधान, पुनातु ॥३२॥

न स्त्री न चास्त्रं न च वाहनानि, न स्वर्गदानादिवृथाप्रचाराः ।  
कल्याणकृत् किन्तु शिवाध्वसिद्धिः, पुनातु० ॥३३॥

गतो न गन्ता न च गच्छतीशः, परां गतिं सिद्धिविनाकृतां यः ।  
भवाटनादूरगतो नितान्तं, पुनातु० ॥३४॥

न कर्म तृष्णा न च रागकोपौ, नाज्ञानलेशः परमात्मताभृत् ।  
न तीर्थनाशाऽवनवद्धलक्षः, (अर्हन्) पुनातु० ॥३५॥

जैनः स एवात्यटनं भवाब्धौ, न वाञ्छति प्रोसति सिद्धिमार्गम् ।  
जन्मान्तकेभ्यो भयभृच्छिवेप्सुः, पुनातु० ॥३६॥

इति एकत्रिंशोऽध्यायः ।

। द्वात्रिंशोऽध्यायः । ( साध्वधिकारः )

जैनः स एव मनुते मुनिराजपादान्,  
संसारसागरतटप्लवने सुपोतान् ।  
दारैर्धनैश्च रहितान् धृतधर्मयोगान्,  
सेव्याः सदाऽऽदरभरेण सुसाधुवर्याः ॥३७॥

ज्ञात्वा जिनेशवचनाद्यदि वा मुनीशात्,  
( गुरुक्तेः ) स्मृत्वा च पूर्वजनुषं भवभावभीरुः ।  
पट्कायहिसनभवान् प्रचुराघहेतून् (शिवमार्गलीनाः) सेव्याः० ॥३८॥



नाजानिवन्मधुकरैः समताऽत्र वृत्ते,

श्रामण्यमुक्तिसहिता सुगुणावलीष्टा ।

बोधेन युक्त उदयेप्सुरतो मुनीशः, सेव्याः० ॥११॥

प्राणाः परैः स्वे परिरक्षणीया, मता न तत्रास्ति दयाप्रचारः ।

प्राणैः स्वकीयैरपि जीवरक्षाः, सेव्याः० ॥१२॥

सत्यं परेषां परमं हि तत्त्वं, दयाङ्गिनां जैनमते तु तत्त्वम् ।

स्वजीवनाशः परहानिमुक्त्यै ( गुरुः ), सेव्याः० ॥१३॥

सत्यं व्यलीकमुदितं ललनादिहेतौ,

रागो द्विपा चात्र पराघवीजम् ।

त्यजेदलीकं भवभृत्सुरक्षं, सेव्याः० ॥१४॥

विप्रा यथोत्पादमलीकमुक्त्वा, नादत्तमत्र ग्रहणे मनन्ति ।

इमे पराक्ये तृणमात्र आज्ञां, सेव्याः० ॥१५॥

परे नियोगं विधिमार्गमाहु-रिमे त्रिधाऽब्रह्म परित्यजन्ति ।

तैरश्र-मानुष्य-सुराङ्गजातं, सेव्याः० ॥१६॥

स्वीयं ग्रहं पापमयं परेऽगु-रिमे कृतं कारितमाहतं पुनः ।

स्वत्वेन वर्ज्यं न परिग्रहत्वं ( स्तुत्याः ), सेव्याः० ॥१७॥

महाव्रतानां परिपूर्णतायै, स्वाध्यायशान्त्योः परिरक्षणाय ।

त्यजन्ति दोषाकरमन्धभोगं, स्तुत्याः० ॥१८॥

उरीकृतानामवनं सुदुष्करं, क्षणे क्षणेऽन्ये यत आत्मभावाः ।

मत्वेति निस्सङ्गतया व्यहर्षुः, स्तुत्याः० ॥१९॥

- सत्रेण पूया श्रमणा समस्तै-धर्मप्रचारो मुनिसङ्गमोत्थ ।  
 नृपोऽत्र आन्धादिषु सयतानऽमुक् ,                      स्तुत्या ० ॥२०॥
- तावद्वि तोय जिनरानगीत, वतत यावन्मुनिराजसङ्गम ।  
 अतो मयूरोपमिता गृहस्था ,                      स्तुत्या ० ॥२१॥
- धर्मो मुनिभ्यः प्रददे जिनेशै , परप्रदानाय सभासमक्षम् । ।  
 गीय धरन्तो मुनयोऽदुरेन,                      स्तुत्या ० ॥२२॥
- न किञ्चनास्तीह मुनीश्वराणा, त्रिहाय दृष्ट्यादिगुणान् जगत्याम् ।  
 दु सस्य मूल पर इत्थमौञ्जन्,                      स्तुत्या ० ॥२३॥
- योग्येषु देशेषु परिभ्रमन्त , श्राद्धोपदेशेन नगानि कुयु ।  
 चैत्यानि जीर्णानि समुद्धरेयु ,                      सेव्या ० ॥२४॥
- तीर्थानि पूर्वपिमहाप्रभाव-विद्योतकान्याप्तमहत्त्ववन्ति ।  
 प्रभावयन्तश्च समुद्धरन्त ,                      सेव्या ० ॥२५॥
- क्वचिद्गुहाया विजने वना तरे, सान्वयभागे सरितस्तटे वा ।  
 निराकुले पण्डितवीर्यवन्त ,                      सेव्या ० ॥२६॥
- वत्सगमादृत्य समस्वभावा , मित्रे रिपौ जीयन् आत्मनोऽन्ते ।  
 मृत्तिर्हि येषा क्षणकालभूता,                      सेव्या ० ॥२७॥
- शुरूपदेशाद् भवितव्यताया , प्रभायत स्वीयसमुद्यमान्च ।  
 लघेऽपि मार्गे शिरगा भविया,                      सेव्या ० ॥२८॥



- आत्मानमात्मप्रतिबद्धरूपं, जानन्त आत्मव्यतिरिक्तमित्राः ।  
 कापायिकं स्थानमपाहरन्तः, सेव्याः० ॥२९॥
- ये नित्यरूपं प्रवरं विदन्त-श्चैतन्यसौख्यैकमयं जिनोक्तेः ।  
 अधिष्ठिताः स्वं निजरूपहेतोः . सेव्याः० ॥३०॥
- ये पौद्गले नैव सुखे निमग्ना, न द्वेषिणः पूर्णनिजस्वरूपाः ।  
 निरुध्य योगान् विगताघवन्धाः, सेव्याः० ॥३१॥
- परे हि तीर्थ्याः निजसेवकान् सदा, तैरश्र्वभावप्रभवं निदृश्यं ।  
 दुःखं विपण्णा भवभावमेते, सेव्याः० ॥३२॥
- पूजा परीवारकृते न दीक्षां, सम्यक्त्वचारित्रविदादिरूपाम् ।  
 चक्रुर्भुजिष्ये भवमन्थनाय, सेव्याः० ॥३३॥
- मुक्त्यर्थमात्ता य इमे परेभ्य-स्त्यजन्ति तानंशुकवासमादीन् ।  
 विमुच्य बोधादिमयं तु जीवं, सेव्याः० ॥३४॥
- न बाहनं प्राप्तपुरस्य काम्यं, नौर्वा समुद्रस्य तटं गतानाम् ।  
 मत्वेति हात्वाऽपरमात्मलीनाः, सेव्याः० ॥३५॥
- जैनः स एवाखिलतत्त्ववेत्ता, मार्ग मुनीनां दृढभक्तिभावः ।  
 सदा धरंस्तेषु गतः शरण्यं, सेव्याः० ॥३६॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

। त्रयस्त्रिंशोऽध्याय । ( धर्माधिकार )

जैन स एव मनुते जगदेकमार, हेतुस्वरूपसुविशुद्धमुदाररूपम् ।

सार्वज्ञ्यलाञ्छितजिनैरदित सुधम,

धमा जिनोदिततया भग्निना शरण्य ॥१॥

सवपु धर्म उन्ति परमार्थसारो,

दौर्गत्यवारणसह सुगते प्रदाता ।

तीर्थ्यै समैस्तत इय प्रतितन्त्रसिद्धि- धर्मा० ॥२॥

सामान्यमेकमिह नैत्र विलोक्यते द्वै-

स्तस्य स्वरूपममलाश्रयशुद्धिसिद्धम् ।

उन्त्वापि मङ्गलतया जगुरस्य सङ्ख्या, धर्मा० ॥३॥

शदेन नैव न च तन्मनसाऽस्य जन्म,

किन्त्वस्य भेदघरणात् त्रय एव भेदा ।

तच्छून्यतामुपगते न हि धर्मतत्त्व, धमा० ॥४॥

स्वप्राणनाशसमयेऽपि न पर विहिंस्याद्,

यत्नश्च सत्रभग्निनामवनाय नित्यम् ।

प्राग्गद्गदुष्टदुरितोपशान्ति, धर्मा० ॥५॥

दद्या प्रमाणमिति धर्मधरात्रमन्ति,

तेऽतोऽभ्युपेयममल श्रुतवाग्प्रणीतम् ।

मिव्यात्वसङ्गतिमियेदमसाध्यमुक्त, धमा० ॥६॥

शेष समग्रमुदित द्रुमपत्रकीय, सिद्ध ततोऽधिकरण त्रितयप्रसिद्धये ।

धमस्य घृत्तमनगारपदोपशोभ, धर्मा० ॥७॥

निर्दोषधर्ममपवाधपदोदयाय,

प्रोच्याऽसमर्थजनतापरिसाधनाय ।

तस्येत्यगारसहिताय लघुव्रतानि, धर्मो० ॥८॥

शक्तेतराप्तिविधया महतां प्रयत्नः,

सर्वेभ्य उद्यततमा हितकार्यदक्षाः,

लब्धयो गुणाय मुनिताऽभ्यसनाय कृत्या, धर्मो० ॥९॥

'मुख्या निवृत्तिरुदिता यत्तिधर्मसार्थं,

दानादिवृत्तिसहिता गृहिणां तु धर्मे ।

गृह्युग्रकामरसनार्त्तनिवर्त्तनाय, धर्मो० ॥१०॥

यत्राऽस्ति दानमुदितं ममताविमुक्त्यै,

स्वायत्ततेन्द्रियगणस्य हता सुशीलात् ।

( भवे भवे धर्मपरं कुटुम्बं, धर्मो० )

क्षान्त्यै तपोऽघगमनाय शुभस्तु भावो, धर्मो० ॥११॥

अर्थार्जितिर्नसुदृशां किल धर्मवृद्ध्यै, लब्धस्य तस्य सुकृतावुपयोग उक्तः ।

मोक्षस्य वर्त्म परसङ्गतिनिःस्पृहत्वं, धर्मो० ॥१२॥

संसारवासजनितः प्रमदप्रकर्षो,

नो तादृशो भवति यादृश आत्मकार्ये ।

तस्यैव लब्धिरुदयाय भवाङ्गिनां स्याद्, धर्मो० ॥१३॥

जन्मानि जन्मजलधौ भविनामनन्ता-

नावर्त्तकान् प्रकटितान्यधभारभाञ्जि ।

दानादिधर्मसमलङ्कृतमेकमेतद्, धर्मो० ॥१४॥

इष्टस्य सिद्धिरधिर्कमतिसाधनाद्यै-

नामित्यन्तरेण विदुषामपि तान् कदाचित् ।

धर्मस्य सिद्धिरमला भप्रितयताया, धर्मा० ॥१५॥

पुण्यादिभि प्रभवमेति नरत्वमुख्य,

कालस्तु मुरयपदमन्यविवर्तभावे ।

वीर्यं ह्यपूनमुपयाति शुभायतिर्ना, धर्मा० ॥१६॥

कर्माणि धानि विविधानि गतादिकालात्,

तेषा शमेन नियम शुभधमलाभे ।

जीप्रस्तनोति शममेतुमुत्तरवीय, धर्मा० ॥१७॥

जीव क्रमेण शिवमागविधानंसिद्धौ,

यत्न तनोति दुरिताणि तथाऽपयान्ति ।

हेतुर्हि कर्मविलयोऽङ्घ्रिविकाशसाध्यो, धर्मो० ॥१८॥

पातोऽपि सम्भविपद न तथापि यत्नो

जीवेन सृष्ट उपयाति न निष्कलत्वम् ।

अन्तो भवस्य नियत शुभधर्मभाजा, धर्मो० ॥१९॥

पञ्चेन्द्रियत्व-नरजातिमुखा समग्रा,

लब्धा सुसाधनतर्ति नर ण्ति मोक्षम् ।

साध्य तु बोध-दृशि-सञ्चरणाग्रिमत्त्व, धर्मो० ॥२०॥

सम्यक्त्वमाप्यत इहाङ्घ्रितृतात् सुयत्ना-

च्छात्र व्रत च भप्रितव्यतया न किञ्चित् ।

कर्मादयो निगदिता सफला जिनेन, धर्मा० ॥२१॥

- भाव्यं चदेव जगति प्रथनं हि तस्य,  
नाकारणं भवति कार्यमनादिकालान् ।  
यत्ने कृते सतिमतेतरथाऽपि कार्यं, धर्मो० ॥२२॥
- ज्ञानानि यद्यपि मतानि बुधैस्तु पञ्च,  
मोक्षैकसाधनमलं श्रुतमेकमेव ।  
तत् प्राप्यते तु सतिमज्जनसत्तिभावात्, धर्मो० ॥२३॥
- लब्धेऽपि लोककलनैकगुणे प्रबोधे,  
निःशेषकर्मविगमो न विनैव (विहाय) यत्नम् ।  
श्रेणेरदृष्टनिचयेऽपगतेऽपि जीवाद्, धर्मो० ॥२४॥
- न प्रेम भक्तिरुपवास उदारभावः,  
शुद्धा न मोक्षविधये विहिताः कुपात्रे ।  
निर्दोषधर्ममधिगत्य समे फलाढ्या, धर्मो० ॥२५॥
- धर्माज्जिनेशगुरवोऽपि च धर्मवृत्तिं,  
कुर्वन्ति सन्ततमिमे दुरितालिनाशात् ।  
धर्मोऽज्जिते नहि जिनत्वगुरुत्वभावो, धर्मो० ॥२६॥
- दीपाद्भवेन्मणिगणस्य यथार्थबोधो,  
नैनं विनान्धतमसेऽर्धमतिस्तदीया ।  
धर्मस्य बोध उदयेद्गुरुदेवभावाद्, धर्मो० ॥२७॥
- अङ्गी यदा चरममागत आत्मभावा-  
दावर्त्तमात्मनिचितं विद्धाति धर्मम् ।  
भावीद्धभावसहितः प्रवरोदयाङ्गं, धर्मो० ॥२८॥

अमानस्यपि भवेच्छुभमागवृत्ति-

नैवामिरोचति जनो गुणलाभयोग्य ।

दुष्टत्वमेति सुननै प्रगत सुमार्गं, धर्मा० ॥२९॥

धर्माप्तियोग्य उदय विमना प्रयाति,

मार्गं प्रकाशितमपेतभयप्रपञ्चै ।

तत्रैव वत्तनपरैर्गुरुभि प्रच्छिष्ट, धर्मो० ॥३०॥

हिंसान्तो घृनिनसार्थमुपैति सत्त्वो,

सुच्येत कर्मविचयात् मुहृताज्जिलीन ।

एतद्द्वय न विहित नरचत्तनात्, धर्मा० ॥३१॥

यत्ता जिनेश उन्वितेतरकमपद्भस्ते-

धर्माध्वजाहकनर समुपैति मोक्षम् ।

धर्मे मय स्थित इति प्रद आत्मसिद्धे- धर्मो० ॥३२॥

तार्थं समुद्र न्ययात् उन्वयाने,

नतावताऽन्पगुणतोऽधिगारम्य ।

निर्यामकम्य वृत्तितोऽमित ण्य लाभ , धर्मा० ॥३३॥

य नभितोऽधविलय प्रगत सुमर्माः,

सैत्रैति धर्मपदोपचयै प्रदिष्टाः ।

मिथ्या तमेव विदधाति जयऽग्ना म्ना (आले) धर्मा० ॥३४॥

गाशाऽहसा भयिन आभममेधर्माः,

पुण्यम्य योगनष्टे प्रमथाऽपि धर्माः ।

पुण्येतरप्रविलयो हि मदा मधर्माद्, धर्मा० ॥३५॥

जैनः स एव मनुते जिनराजगीतं,  
 प्रोक्तं सभासु गणभृन्नियमेन धर्मम् ।  
 यावत् प्रभावममलं भविभिर्धृतो-हि, धर्मो ० ॥३६॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।

। चतुस्त्रिंशोऽध्यायः । ( ज्ञानाधिकारः )

जैनो यो मनुते सदा सहगतं सज्ज्ञानमात्मश्रितं,  
 ज्ञानानन्दमयो यतो जिनमते जीवः समस्तो मतः ।  
 यावद्येन विनाशितं भवति तत्तस्यावृतेः कारकं,  
 सज्ज्ञानं श्रियतां सदा भविजन ! स्वार्थप्रवोधोद्यतम् ॥१॥

सूक्ष्मोऽसौ भवचक्रमध्यमुदयन् ज्ञानस्य लेशं दधद्  
 भ्रान्तोऽनादित आवृती अतितरां सर्वत्र चैकेन्द्रियः । (?)  
 यत्कालं व्यवहारवर्जिततनुस्तावच्छरीराह्वयुः, सज्ज्ञानं ० ॥२॥

आयातः पृथिवीभिदां तनुतरां प्रत्येककायं धरं-  
 श्वैतन्यं व्यवहारितामनुगतः प्राप्नोति सज्ज्ञां पृथग् ।  
 प्राक्कालादमितां जघन्यपदिकां वृद्धि समेतोऽसुमान्, सज्ज्ञानं ० ॥३॥

एवं वृद्धियुतो मतावतितरां वार्वायुतेजोयुते,  
 प्रत्येके च वनस्पतावनियमाद्दृष्टीतरे धारयन् ।  
 स्पर्शाशेन पदार्थरूपमननादेकेन्द्रियत्वान्वितः, सज्ज्ञानं ० ॥४॥

एव य क्रमभाजन भ्रमगणात्कायघ्नजाद्वा भवन्,  
 ज्ञानम्यागणितेन भागमुपयन् ह्यर्यश्च भाव्याश्रयात् ।  
 सम्भ्रान्त स्वप्नजातित क्रमधर ज्ञानस्य प्रष्टव्यादिपु, सज्ज्ञान० ॥५॥

पुण्येनापमितेन पुष्टिपत्नवों यावद्भूवी सम्पतेत्,  
 तावत्सङ्घटतेऽस्य वृद्धिसहित जिह्वेन्द्रियेणादिमम् ।  
 एव वृद्धिरपेक्ष्यतेऽश्ननिस्तृता शस्तेरसूना गणे, सज्ज्ञान० ॥६॥

यात्रन्नश्यति हन्यमानननुप प्राणापरोपोद्भवा,  
 सा तात्रप्रमित यधोद्यतनर पाप समुद्वायति ।  
 नैवात्रास्ति विशिष्टता भ्रमभृतेष्वन्येषु जीवेष्वपि, सज्ज्ञान० ॥७॥

साधुभ्यो गुरुमिश्च शोधिकृतये जीवस्य दुःखार्पणे,  
 तत्तद्भेदमनुश्रितैलघुबृहत्पापोच्छ्रयोच्छेदकम् ।  
 प्रायश्चित्तमनेकधात्ममनसै सामर्थ्यमात्राश्रित, सज्ज्ञान० ॥८॥

द्वित्रायश्चसमन्विते भ्रमभृति स्युर्गाचरास्तच्छ्रिता,  
 स्वादाद्या खणान्तका निजनिजाऽऽष्टोद्वसात् प्राणिनि ।  
 तस्माज्जीवशरीरगा निगन्तिता चित्रा मुनीना कृति, सज्ज्ञान० ॥९॥

पद्माक्षत्वमधिश्रिता असुभृतो नानागतिं सश्रिता,  
 जात्या तत्र विद्या परा सुरभवे ह्यानुत्तरे दैवते (निजरे) ।  
 तत्तज्जातिसमुद्भवस्य विलयो ज्ञानस्य दोषावह, सज्ज्ञान० ॥१०॥

मानुष्ये व्यवहारमार्गसुगम सङ्केतसाध्य पर,  
 लिप्यादेर्जनित 'यदम्बरभव यच्चान्तरा बोधत' ।  
 तत्सर्वं व्यग्रहारमागपतित विज्ञै श्रुत रथायते, सज्ज्ञान० ॥११॥



तत्त्वस्थं श्रुतमीर्यते श्रुतधरैः सर्वज्ञवाक्याश्रयं,  
 यत्त्यक्त्वा वचनं समस्तविदुषां नान्या प्रमाणान्विषा ।  
 तद्वाक्यैकनिवेदनं श्रुतिमतां सर्वार्थगं नापरं, सज्ज्ञानं० ॥१२॥

सर्वज्ञं वचनं समेतरगतं शृण्वन्न्यशेषाः सुराः,  
 तेषां नैव परम्परा न च गणी सूत्रालिकर्ता प्रभुः ।  
 पारम्पर्यमपीदृशं न च परं सूत्रार्थधाराः क्रमात्, सज्ज्ञानं० ॥१३॥

देवानां न विरागमार्गगमनं योगादिका न क्रिया,  
 मिथ्यात्वे श्रुतकेवलित्वहृत्तिवत् प्रेत्योद्भवं नो तथा ।  
 शास्त्रं तेन परम्परा श्रुतगता मानुष्यिकी केवला, सज्ज्ञानं० ॥१४॥

तिर्यञ्चो न यताः परम्परपदे दूरे परात् संयमात्,  
 श्वभ्रस्थाननिवासिनश्च नरका न श्रौतमाम्नातिनः ।  
 मानुष्या अनिशम्य केवलविदो नाम्नायवित्तास्तके, सज्ज्ञानं० ॥१५॥

न ज्ञानं विरह्य्य शासनमिदं श्रौतं समुत्तिष्ठते,  
 तीर्थस्थापि जने प्रवृत्तिरनघा श्रौतप्रबोधोद्भवा ।  
 श्रौतं चेन्न प्रवर्तते न भवति तज्जैनं परं शासनं, सज्ज्ञानं० ॥१६॥

निशशेषाण्यपि पञ्चधा प्रतिपदं ज्ञानानि गीतानि यत्,  
 तान्याराध्यपदानि दर्शनमुखान्यात्रिपदीवोद्धृतौ ।  
 तीर्थशानि पदानि पञ्च सुधियामर्च्यानि तेभ्यो ननु, सज्ज्ञानं० ॥१७॥

ज्ञानं श्रौतमपोद्भ्य मूकसदृशान्यन्यानि चत्वार्यपि,  
 ज्ञानानीति यदीर्यते श्रुतधरैस्तत्रानुयोगादृतिः ।  
 स्वार्थाभासरूपता नु निखिला भव्याच्चसूर्यप्रभा, सज्ज्ञानं० ॥१८॥

पूज्य निश्चलले विशेषमतिना द्रव्य जिनाग्यास्तत ,

पञ्चाप्येत उदारभावविधयाऽऽव्यन्ते परा स्वामिन ।

युक्ता इग्नमुत्पद्युद्गुणयुग्-गुण्याश्रयाऽऽराधना, सज्ज्ञान० ॥१९॥

ज्ञान यद्यपि मोक्षसाधनतयोद्गीत ध्रुवार्धद्वरै ,

मामान्येन तथापि न श्रुतमृते मोक्षप्रयाणोत्तमम् ।

यत्कर्मामरोधनाशनिपुण सहस्रस्थितौ साधन, सज्ज्ञान० ॥२०॥

कैवल्य विमल चरित्रममल पुर्योच्छ्रुत प्रचर,

बुद्धियद्यपि साधने सहचरी साध्या पर सा श्रुते सज्ज्ञान० ॥२१॥

यावत्तीर्थकरो वदेत् परिपदि प्राग्भारमर्थाश्रित,

द्यात्वा निमल-कैवल्येन यतिना घायच्छ्रुत तत्त्वत ।

यद्यत्रात न निवेदित परिपदे तत्प्रेरल केरल, सज्ज्ञान० ॥२२॥

मत्या यान् धिर्विभान् मनोगतसमान्वेत्तीह घोद्धा नरो,

नवान् वस्तुमल वतो न गदित सर्व मति केरला ।

मत्या यच्छ्रुतमुच्यते मतिर्धनैस्त्रत्माभनापेक्षया, सज्ज्ञान० ॥२३॥

सस्कार मतिग तनोति सुतरा यत्परदृष्टता स्वामति ,

ध्रौतनान्विनमानमा नहि भयन्त्यल्पत्यभाजो मते ।

अद्वागे तु भवेच्छ्रुते प्रामत शब्दादयो बुद्धिगा, सज्ज्ञान० ॥२४॥

ज्ञानय विदित गमात्मकतयाऽऽदेय च शास्त्रात्तथा,

श्रुत्याऽधीयत सर्वमात्मपरग भौगान्तामापत्कल्मम् ।

सेोद् जिाराचरन्वतिगत ज्ञान सग धार्ये, सज्ज्ञान० ॥२५॥

येऽर्थाः सन्ति चराचरे जगति ये तद्वाचका निःस्वना,  
नैवैते पतिताः कुतोऽपि वियदाद्याद्वक्त्रवक्रोद्गताः ।

ते सर्वे वरदृष्टिवादमपतन् तत्तद्धरः सर्ववित्, सज्ज्ञानं० ॥२६॥

दृष्टिश्चेन्न हि साम्यता हृदगता नैवार्थबोधोऽमलः,

स्यादित्यं वरदृष्टिवादमननं सम्यग् दृशां सत्यभाक् ।

अक्षातीतपदार्थबोधनपटुः सम्यग्-दृगाढ्यो ध्रुवं, सज्ज्ञानं० ॥२७॥

ज्ञानार्थे यदि ते मनो भवति-वेदाराधनायोद्धुरं,

नित्यं तद्गुणगाहिनां गुणवतां भक्त्यादि कार्यं कुरु ।

ध्यानं सत्पदजाप उन्नतिकरोऽभ्यासो नवीनश्रुतेः, सज्ज्ञानं० ॥२८॥

ज्ञानं ज्ञानवतां महाव्रतजुषां भक्त्यादिभिः प्राप्यते,

यन्नैपोऽस्ति गुणः परेभ्य उदितो यो दानदेये क्षमः,

पाठाद्या अपि संगता न मत्तये चेद् नैत आत्मा नयं सज्ज्ञानं० ॥२९॥

यस्यान्तः प्रकटाः समा नयमिदो वाचश्च नो विधृता-

स्त्यक्त्वा सद्विनयं सदा सविनया जीतेन यत्तद्वशाः ।

कायः स्वप्नदशागतोऽपि विनयं नोज्ज्ञेत्सुगीतात्मनः, सज्ज्ञानं० ॥३०॥

नाप्तुं योग्यपदान्वितो नरपतिर्धिकारदूरीकृतो,

देवानां न करोति साधनयुतां भक्तिं परां यौगिकीम् ।

चेत् तज्ज्ञानपदान्वितेषु गुरुषु त्रिधाश्रितो ज्ञानयुक्, स० ॥३१॥

नास्त्यन्योऽपर एतद्वद्विसदृशः प्राप्तर्धिकः सद्गुणो,

यः सङ्क्रामपदं भजेत् परजने मूलाद्भवेद्वाऽधिकः ।

चेत्तादृग् गुणसङ्ग्रहो न रुचिदो गन्ता कथं सोऽव्ययं, स० ॥३२॥

क्षाः देवगतिं-सदोदयवर्ती नीचा गतिं नारकी-

मात्रित्यत्र अनुमता श्रुतं रयात् त्ववध्यात्मकम् ।

अध्यागान्तरनुश्रितो यरकृतिं सुस्था च दुःस्था धरेत्, स० ॥३३॥

जीवानामुपकारिणीमथ परा कुर्यात् क्रिया मञ्जन ,

सज्ज्ञानत्रितयाश्चापि परतो जायेत पुण्य तथा दुःकृतम् ।

वेद्ये द्वे अपि मद्गतावितरथाऽऽयश्च तत्र ते, सज्ज्ञान० ॥३४॥

जीवानामपरापरामु गतिपु-प्रोत्तुमाशुभयो ,

प्रोत्तु यमुत्त श्रुताश्रितग सप्त तनुनाऽन्यथा ।

तद्वा भावि विज्ञानताऽसुधरण ताङ्गभवेच्चेद्विदा, सज्ज्ञान० ॥३५॥

तुयं ज्ञानमगारसङ्गमदित हित्वा धरेत्साधुराह ,

निनत्त्रेयलधिद् द्विधा गृह्यतो निमन्यते द्वे सरेत् ।

तुयं नो जनिसम्भव गुणगणोद्वेद्येनसाध्य मत, सज्ज्ञान० ॥३६॥

सर्वान् द्रव्यमुमङ्गतान् प्रतिफल सम्यद्धभावान् समे,

क्षेत्रे फालयुतान् स्थिरास्थिरमया वेच्यन्त्यथोधोत्तम ।

नियो नाम्य परापृति स्पलति च शुद्धात्मरूप सदा, स० ॥३७॥

जोऽमौ परमेष्ठिपद्ममनारूपपूजाधैमयो,

नित्य मीति च तद्रताः गुणगणान् ज्ञानादिनाः साधयत् ।

गण्याराधनतत्परो विरमते तेनमदीय म्मरत् ,

तद्वत्पूयमुपूजयो ऽ विरमे ज्ञानादिपराधना ॥३८॥

इति चतुर्विंशोऽध्याय ।

। पञ्चत्रिंशोऽध्यायः । (सम्यक्त्वाधिकारः)

जैनोऽसौ मनुते सदा जिनपतेराज्ञां सुखानां खनि-  
माज्ञाप्यन्त उदारकर्मनिधनाः स्वर्गाय मोक्षाय च ।

ज्ञात्वाऽनादिभवाटनं भवभृतां तच्छेदनाय स्वयं,  
दध्याच्छुद्धतरं चरित्ररमणं दिष्टं जिनेन्द्रैः परम्

॥१॥

उद्युक्तोऽत्र न चेदतीतदुरितो नाप्नोत्यभव्यः शिवं,  
तत्पूर्वं भवधारिणाघविलये सम्यक्त्वमादीयते ।

तत्र स्तो यतनावतां प्रशमिनां निर्वेदसंवेगकौ, दध्या० ॥२॥

मोक्षः सर्वमतेश्वरैरनुमतस्त्यागेन सर्वास्तिकैः,  
कर्माशापगमाज्जिने वरमते चारित्रयुक्तेरसौ ।

यन्नारुद्ध उदित्वरेऽघ उपयात्यन्तं पुरा सन्धितं, दध्या० ॥३॥

पापेभ्यो भयमादधन्त उदिताः सर्वे जगत्यास्तिकाः,  
पापानां नहि कारणानि मनसा स्वैः स्वै रूपैर्जानते ।

अज्ञानाश्च दयामुखाः प्रतिपदं प्राणिव्रजान् घ्नन्त्यमी, दध्या० ॥४॥

पापं हेयतमं नृभिः प्रतिदिनं स्वीये सदस्यव्रजे,  
व्याख्यान्तो न च तीर्थिकाः परिहृतौ तेषां समर्था यतः ।

जानन्ति न हि ते स्वरूपमथ चाङ्गं साधनाद्यं तथा, दध्या० ॥५॥

जीवानेव वदन्ति नो परमतान्यास्थाय धाष्टर्यं परं,  
पृथ्व्यादीन् प्रथितान् त्रसेतरविधान् पञ्च स्थिरान् (मौढ्यतः) ।

तन्वादि-प्रविधानदक्षमतिकान् कायान् जगौ षड्मितान्, दध्या० ॥६॥

जन्माप्य तनुवधन / सहकृत लब्धा ममेऽमी भुवि, ॥१॥ १४ ।

स्वाहार च । सनातन प्रविद्धत्यात्मीयजातिश्रितम् । ॥ १५

सत्यप्येवमनात्मतत्त्वनिदुरा नोशन्ति पृथ्व्याद्यसून्, - दध्या० ॥७॥

आत्मानत्यमुपेत्य मुक्तिपदवी शश्वन्मता नैव च, ॥ १६

भव्यानामवसानिता न च जगत्पूण मत शूकरे । ॥ १७

यत्रास्तित्वमसुव्रजस्य सफले भोग त्रियाया निजे, - दध्या० ॥८॥

सत्र प्राणभृत स्वकमफलिनो नैवान्यदत्त हत, ॥ १८

भुञ्जन्ति प्रभुरीश्वरो न च फले धर्ता विनेता भवेत् । ॥ १९

समारोऽयमनादिको जनिमृतिव्रातो मतो यत्र तद्, दध्या० ॥९॥

चेत् कर्तारमुपैति त्रिश्वजनकः दारिद्र्यदौर्गत्यरुक्- ॥ २०

गोकोत्पत्तिभगानि तानि जनतादु ग्यान्युपैतीश्वरात् । ॥ २१

तन्निष्कारणवैरितामुपगतो यत्राश्रितो नेश्वरो, दध्या० ॥१०॥

सत्रपा जगतीतले दिनकरो हित्वोपकारेतरौ, ॥ २२

निन्दास्तोत्रममानयन् जन्तव्रने भास्य प्रभास्ते सत्र । ॥ २३

तद्वयत्र मतो जिनेन्द्र उदितादेयेतरार्थोदिति-दध्या० ॥११॥

दुःखाकरिष्यति भवोदधिमज्जनेने- ॥ २४

ष्टो नार्चितो न जगता प्रभुरेप लोकान् । ॥ २५

मीत्येति नैव महनीयपदे मतोऽर्हन्, दध्या० ॥१२॥

स्वर्गापवर्गपदवी- विनयामि तस्य, ॥ २६

स्यागो न मे चरणपङ्कजपट्टपदाभ । ॥ २७

चेत्स्यात्तथा प्रवितरामि मुदेति नाऽत्र, - दध्या० ॥१३॥

आत्माऽनादिभ्रुवभ्रमिः स्वकृतमुक् चैतन्यपूर्णो भवेत्,  
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसुगुणैश्चेदुद्यमी मोक्षणे, दध्या० ॥१४॥

यः संसारवनाम्बुदावलिसमाद्बन्धात्स्वयं निर्गतो,  
लीनः संयमसाधनेऽघनिचयं क्षिप्त्वा वृत्तः केवलम् ।  
श्रीसङ्घाय समादिशन् मुनिगृहिश्रेयः सदाऽत्रार्हते; दध्या० ॥१५॥

संसाराम्बुधिमग्नचित्तचरितोऽर्थः प्राणिनाशाङ्कित-  
स्तं हित्वा गुरुयोग्यतामधिगतः सोढोपसर्गान् क्षमी ।  
मान्यो यत्र गुरुः सदा शिवपथे पान्थीयति निःस्पृहो, दध्या० ॥१६॥

पूज्या यत्र जिनेशिनः शिवपथोद्देशात्स्वरूपस्थितेः,  
सिद्धाः धर्मसमादरा गणिमुखाः सेव्याः सुपात्रस्थितेः ।  
सद्दृग्बोधचरित्रशुद्धतपसां सङ्घः सुधर्मास्पदे, दध्या० ॥१७॥

आत्मा ज्ञानमुखामितैर्गुणगणैः सिद्धौ युतः स्फातिभाक्,  
तत्तद्रूपविभावनावनमुखो धर्मः स्वरूपे निजे ।  
तैलं स्यात्तिलसञ्चये न रजसि तन्नात्र धर्मोऽपरो, दध्या० ॥१८॥

पापालेः परिवारकं मतमिहोत्कृष्टं तथा वर्त्तनं,  
दान्त्वाऽक्षादिगणं तपोऽनशनतो वैराग्यदं भावनम् ।  
नारम्भो न परिग्रहो न विषया धर्माय देहश्रितां, दध्या० ॥१९॥

लब्धेऽर्थे क्षयमाश्रितेऽघनिचये न्यायात् पथो लाभत-  
स्तं पात्रावलिसङ्गतं हृदि सदा कर्तुं मनो धारणम् ।  
श्रेयो यत्र न लोभसञ्चयकरे लाभे न जातूच्यते, दध्या० ॥२०॥

कर्माप्यष्टविधानि बोधसुरप्रदान्यामिन् मोक्ष गमी,  
भव्यो धर्ममुपेत्य शाश्वतममु बोधात्स्वय वा गुरो ।  
याऽग्रमथा प्रतिमागता शिवश्रिता यत्राहता सम्मता, दध्या० ॥२१॥

वर्मो यत्र त्रिरोधवर्जनपरो जीवान्तकारिण्यपि,  
सर्वेषा भविना सुखैकमननो दु र्यङ्गिदु खापनुत् ।  
रागद्वेषविवर्जितात्मनि गत मत्तत्त्रवेत्तु सदा, दध्या० ॥२२॥

यत्राश्रिता गुरुपदे क्षितिमुरयकायान्,  
जानन्त उत्तमधिया परिरक्षयन्त ।  
चेत्याश्रयात्रितजनादिममत्वमुत्तर, दध्या० ॥२३॥

यत्रास्ति मान्यमनघार्हतशास्त्रवान्य,  
पूर्वापरार्धविपमा नहि यत्र चाणी ।  
सर्वाङ्गिजातहितकृत् परमार्थदेशि,  
दध्यान्चरित्ररमण जिनदशन स्नाक् ॥२४॥

यत्राऽस्ति कोऽपि जगता न वधादिपात्र,  
शास्या समस्तजनताऽघविनाशनाय ।  
मोक्षाधिकरुद्धसरणिं प्रति सारयित्वा, दध्या० ॥२५॥

ज्ञान न यत्र विपयाभ्यसनैकरम्य,  
नैवात्मवत्परिणत फलिताधशू यम् ।  
त्त्र, दध्या० ॥२६॥



दुःखद्विपो जगति दीनदशामुपेता,  
देवाङ्गनादिरसलालिततप्तदेहाः ।

नैवाद्यताःसुमहनीयपदं मुनीशाः , दध्या० ॥२७॥

धर्मं विदन् प्रविदधद् विरताघवृन्दो,  
धर्मं सदा प्रविदिशन् जिनराडुदीर्णम् ।

यत्राद्यतो गुरुजनोऽनघमार्गगामी, दध्या० ॥२८॥

प्राग्धर्माजितसत्पदोऽनघपथो रागादिसर्वारिहा,  
स्याद्वादाद्यमृतवर्षको मुनिगणैराम्नाञ्चयः शाश्वतः ।

अर्च्यः श्रीजिनराट् सदा सुरनरैर्देवो मतः सद्गुणैः , द० ॥२९॥

ये धर्मं परमं श्रिता जिनपदे विम्बानि तेषां सदा,  
कुर्वन्त्यादरसंयुतानि विशदास्तत्स्थापनाढ्याः सदः ।  
मोक्षाध्वप्रगुणोऽद्विवर्ग उदितो यत्रास्ति पुष्टौ धृतो, दध्या० ॥३०॥

ब्राह्म्ये पञ्चनमस्कृतिः क्षण इहाद्ये संस्मृता पूजनं,  
पुष्पाद्यैर्जिनराजविम्बविषयं सत्संवरेणाञ्चितम् ।  
धर्मस्य श्रवणं न रात्रिरसनं सुप्तिः कृताराधना, दध्या० ॥३१॥

पूज्यो यो न रमां रमेत विषयैर्नास्त्राणि द्वेषावहान्,  
नाज्ञानाज्जपमालिकां न च परे लीनो भवोत्तारके ।  
पर्यङ्कासनदृग्यतोऽखिलभवान्तेऽसौ गतः स्वां विदं, दध्या० ॥३२॥

पूज्यो यत्र गुरुर्निराश्रवतनुः सत्संयमे यो दृढः,  
सोढा स्यादुपसर्गदुःखवितते निर्जित्य वृद्धमुख्यगान् ।  
सर्वानेव परीषहान्नघचयहासैकदृष्टिः सदा, दध्या० ॥३३॥

धर्मा यत्र समस्तसत्त्वततये । मा भीप्रद मिद्वये ,  
 पण्णा जीवनिक्कायरक्षणकरो युक्तश्च तम्मिन् सदा ।  
 आचारैरूपदेशेनै फलभरत्तातेस्तदाचारिमि-र्दध्या० ॥३४॥

नो यत्राचनमापगावलिगत नागागवृक्षाश्रित,  
 तिर्यग्जातिगत न ससृतिगते देवे कचिनाश्रितम् ।  
 कैवल्यान्यितसद्ब्रतिव्रजगत तत्साभ्यते सदा, दध्या० ॥३५॥

तिष्ठेत्प्र जन पुराकृतसुठुदुर्नोतिरीतिप्रहो,  
 मायस्तयायपथानुगोऽथनिचयोजासैकप्रद्धादर ।  
 षष्ट्यत्रिंशन्मन्तनाधरहित ध्येया त्रिनो देवता, दध्या० ॥३६॥

पर्माण्युत्सवराजयोऽऽ वितता दाने प्रते सयुते,  
 भावेनोच्छ्रितशाश्रवेन तपसि प्राणैकरर्थापरे ।  
 उग्रन्तु जगता हिताय शमिना शुद्धोपदेशे सदा, दध्या० ॥३७॥

यत्र स्मत्वा प्रथुगुष्मा मुनीना निपासा-  
 स्त्रीतियगादिविधुता रहिताश्च चित्रै ।  
 सान्निध्यतोऽपि न परे श्रितमैथुनागा, दध्या० ॥३८॥

यत्रेप्सितानि न विवाहमुग्रान्यलीका-  
 न्यादीयते तृणमपीह परै प्रदत्तम् ।  
 धाय तु ब्रह्म नरभेत्मुत्तारभार, दध्या० ॥३९॥

यत्रास्ति नैव निक्षिभोजनमशतोऽपि,  
 बाल्यादपीह फलपञ्चकनजनेन ।  
 चानन्तस्त्रयनिचयोऽशनमेति जातु, दध्या० ॥४०॥

चैत्ये यत्र विधीयते स्थितिपदं वामे स्त्रियां दक्षिणे,  
 पुंसां, नैव परस्परं स्पृशिविधिर्नो वेपवैयत्यतः ।  
 पुंसां नर्त्तनं नैव (नक्रं न) देवचरणं शुद्धयै निजात्मस्थिते—र्द्ध्या० ॥४१॥

मृत्युप्राप्तजनो हि यत्र निजतो न श्राद्धकामी स्वयं,  
 भोक्ता सञ्चितकर्मणो न विहितं प्राच्यं परैरर्पितम् ।  
 पार्थक्येन जगन्ति कर्म निजकं भोक्तार इत्युच्यते, दध्या० ॥४२॥

यत्र श्राद्धगृहेषु नाङ्गणगता कालाम्बुनाली भवे,  
 वर्चस्कस्य न कूपिका न च भवेत् स्थासुत्प्रपीडा गुरुः ।  
 न धर्माय नग्नादिसिञ्चनकृतिर्नैवानृत्याशीःप्रथा, दध्या० ॥४३॥

सेवालो नहि यत्र नैव च पयःपूरव्ययोऽनर्थकौ,  
 नो पण्ढादिविपोपणाय विहितिर्नो पञ्जरालिर्गृहे ।  
 न न्यायेन विनिर्गता चित्तिरपि प्रध्वस्तपुण्या कृति—र्द्ध्या० ॥४४॥

स्याद्यत्रास्तिकवेश्मसु प्रमितिमान् पानीययत्नो वृथा,  
 नो हिंसा वनतेजसामतिमिता चेष्टा भवेदङ्गिनाम् ।  
 त्राणायानुपदं स्थितेतरभिदां भीतिश्च पापादृतेः, दध्या० ॥४५॥

यत्राम्भोगलनानि धान्यतृणगोविट्काष्ठमुख्याश्रिता,  
 रक्षायै त्रसजीवसन्ततिश्रिते यत्नोऽन्वहं वीक्ष्यते ।  
 स्थाने स्थान उदीक्ष्यते मृदुगुणा सन्मार्जनीनां ततिः, दध्या० ॥४६॥

चुल्हादिप्रसिते तु देशदशके चन्द्रोदयैरङ्किते,  
 सत्सामायिकपौषधालययुते दानादिधर्मोद्दुरे ।  
 वासः स्याद् गृहमेधिनां जिनगुरुप्राप्तगमे सद्गृहे, दध्या० ॥४७॥

बाला अध्वनुनासर स्तुतिपत्नान्युद्घोषयन्ति स्फुट,  
 प्रसूजन्मुखपङ्कजाटुचिरतान्यर्हद्गुरूणा कृते ।  
 सर्वाभीप्रवशाप्रता मुविनीता सद्द्वेषसुस्था सदा, दध्या० ॥४८॥

सच्छब्दाप्रलीरत्र चैत्यसुगुरस्थानेषु नद्वादरा,  
 वाने पापधकमणि प्रवितर्ता सामायिकाना कृता ।  
 अर्हच्छासनमानिनाममितमुन्मान सदा कुन्ते, दध्या० ॥४९॥

ग्लानाना प्रतिचारणासु निरता संघे जना निर्भिद,  
 मत्ना ता प्रतिपातवर्जिततमा सद्धमसिद्धयै मुता ।  
 यत्रक्ष्यत्त विचारचारुवनिताश्रेणिप्रभाशोमिता , दध्या० ॥५०॥

यत्रान्ते सकलाङ्घ्रिवैरत्रियुतिर्भैत्री च सर्वासुभि-  
 र्माद् प्रष्ठगुणान्वितेषु सतत साद्र च हृद् दु रिपु ।  
 हेयादेयविनर्जितेषु सरलोपेक्षा पत्नार्थप्वल, दध्या० ॥५१॥

यत्र म्याद्गृहिणा सुतीर्थगमन सार्धं समैर्धार्मिकै ,  
 पङ्करीणा प्रतिपालनेन सुमहत्सद्धार्मिकोद्धत्सलात् ।  
 तन्वत् सत प्रतिधाममद्विधियुता पूना सनात्सह्यका, दध्या० ॥५२॥

चैत्ये निम्नत्रिधो निदशलिपिषु वाचयमे श्रावणे,  
 प्राप्ताना त्रिनियोजन त्रितनुते विसत्रजाना सुधी ।  
 यत्राप्तर्षिहितो धृतो मतिरर्मुक्त्यथमात्तप्रतो, दध्या० ॥५३॥

य दशान्तरमाश्रिता प्रतिदिन चैत्यार्चनादौ हृता ,  
 श्राद्धान् यत्र प्रवन्दितानि कथया यन्नापयन्त्युन्मता ।  
 चैत्यानि प्रनिभाममानमुन् सम्मीलने तै सता, दध्या० ॥५४॥

न्यायाच्चत्र समर्जनं धनगतं शस्तं प्रयोगः पुनः,  
सत्तीर्थेषु जिनेन्द्रविम्बसहितेष्वाम्नायते मुक्तये ।  
तस्योद्धारनवीनकार्यविधये ग्रामेऽपि चैत्यादिषु, दध्या० ॥५५॥

स्याद्वादाद्बुधिसम्भवानि वचनान्यर्थापयन्त्यन्वहं,  
रत्नान्युच्चदर्शपिपु प्रतिपदं चत्रार्हताः सम्मदान् ।  
पर्यायैः परिमीलितानि भुवने द्रव्याणि पट् संश्रिता, दध्या० ॥५६॥

जैनः स्याद्विमलेन दर्शनपदेनोदः परार्थे दृढ,  
आत्मानं भववारिधेः परतदमानेतुमुच्चैर्मनाः ।  
जन्माद्यैर्विविधैरशर्मनिधिभिर्जातां व्यथां व्यर्थयन्,  
दध्याच्छ्रेष्ठतमं चरित्ररमणं दृष्टं जिनेन्द्रैः परम् ॥५७॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।

। पट्त्रिंशोऽध्यायः । ( चारित्राधिकारः )

जैनोऽसौ ननु यो दधाति सदये मोक्षैकसौधारुहे-  
ऽलम्भूष्णु प्रबलावृतिव्रजहतौ निष्णं चरित्रं परम् ।  
सर्वेऽप्येतद्वाप्य कर्मविलयं परमेश्वराश्चक्रिरे,  
आत्मारामपदं भजन्तु भविनश्चारित्रमत्युज्वलम् ॥५८॥

कायास्ते पृथिवीमुखाः षडपि नो धात्या मनोवाक्त्तनु-  
सम्भूतैः करणादिभिस्त्रिकृतिभिरात्मोपमास्ते सताः ।  
धावज्जीवमनाहतं व्रतमिदं यत्राश्रयेन्निर्मम, आत्मा० ॥५९॥

क्रोधाहुधतया हसेन भयतो नो यत्र वाक्य मया,  
 स्याद्धान्य निखिलाघहेतुतुलित ससार उद्धामरम् ।  
 सर्वा पापपरिमहैकरुचिरा जायेत चेष्टा तत, आत्मा० ॥३॥

नादत्त वृणमात्रमथमपि चादीयेत यत्राच्छता,  
 दन्ताना प्रविधातुमात्तनिकरैगदेयधार्येऽखिले ।  
 आत्मार्थान्तनिष्ठित मतमिह सेय प्रदत्त शिव, आत्मा० ॥४॥

यावज्जीवमनारत गुरुगुण धार्यं तु ब्रह्मान्वित,  
 सिद्धाभिनयमि सदा सुवृत्तिभिर्येज्जीविताम व्रते ।  
 सर्वासयमसाधन परिहरेत् स्त्रीसङ्गमत्रोपित , आत्मा० ॥५॥

सत्रस्मिन् जगतीतले त्रिदधीतासङ्गत्वभाव त्यज-  
 त्रि शेषार्थपरिमह स्थित इह कर्माणुमीतो मुनि ।  
 धर्मायापि धरेद्रजोहरणदृग् नि सङ्ग उक्तोपधि, आत्मा० ॥६॥

स्वाध्यायान्निविधातक धृतगुरुब्रह्माऽऽन शारर,  
 जग्धि चाशनपानस्नानसहिते स्वाद्ये निशाया त्यजेत् ।  
 रक्षेदात्मनि यत्र सत्त्वविषया स्फुजत्सुधी सदया, आत्मा० ॥७॥

क्रोध लोभमदान्वित च निवृत्तिं जह्यात् स्थित मद्भिरि,  
 शौचे सयमसयुते सुतपसि ब्रह्मण्यसङ्गे रत ।  
 पापस्य दशधोन्ति धृतप्रतो धर्मं तु यत्राभयेद्, आत्मा० ॥८॥

पृथ्व्यान्निश्चितपद्मक त्रिन्मपूर्णाक्षाशित पूणस्य,  
 जीवानां गतचेतनांश्च यतते प्रेक्षा समुत्प्रेक्षिताम् ।  
 त्याग व्यापहृतिं समीक्ष्य तनुयान्चित्तै सदाऽत्रोद्यमात्, आ० ॥९॥

सूरौ वाचक सत्तपोऽसहशिशुव्राते कुले सद्गणे,  
सङ्घे साधुमनोज्ञयोरुरु सदाऽऽधीयेत वैद्यावृत्तिम् ।  
यत्रत्यैः प्रतिपातवर्जिततनुं स्वात्मश्रियः कामुकैः, आत्मा० ॥१०॥

योषाणां निलये न वासमुचितां वार्ता करोतीह यः,  
सेवेतासनमिन्द्रियाणि दमयेत् कुड्यान्तरो न भवेत् ।  
क्रीडां न स्मरतीद्धमुञ्जति रसं शोभां न काये सृजेत, ॥११॥

यावज्जीवमविश्रमं दधदिह ज्ञानादिरत्नत्रयं,  
द्वौ भेदौ तपसः स्वपट्कसहितौ क्रोधादिवृन्दोज्जनम् ।  
सप्तत्याह्यमिदं हि चारुचरणं यत्राप्यते सर्वत, आत्मा० ॥१२॥

आहारे वसतौ पतद्ग्रहधृतौ वस्त्रे च शुद्धचर्चिता-  
मीर्याद्याः समितीश्च पञ्च दशयुक् ते भावने द्वे कृतौ ।  
भिक्षूणां प्रतिमाः सदेन्द्रियजयं वस्त्राद्यवेक्षां गुपीः, आत्मा० ॥१३॥

आबाल्यादपि दीक्षणं भवभिदे कर्मानलाम्बूपमं,  
यावद्दीक्षणकार्ययोग्यमसमं सामर्थ्यमिष्टं तनौ ।  
वर्णानां न भिदा न चाश्रमक्रमोऽन्येष्टोऽत्रधर्मेशिवे, आत्मा० ॥१४॥

नैवाऽत्र क्षितिकर्षणं पशुगणो नैवात्र पाल्यो मतो,  
व्यापारोऽपि समग्रपापनिलयस्त्याज्यो मतः सर्वथा ।  
आरम्भात् सपरिग्रहाद्विरमणं त्रैधं त्रिधाऽत्रार्हते, आत्मा० ॥१५॥

यावत्स्थाम शरीरजं मतिमुखान् शक्तो गुणानेधितुं,  
निःसङ्गोऽत्र भुवस्तले नवविधं कल्पं समाराधयन् ।  
धर्मोद्योतपरोऽघसन्ततिभिदे कुर्याद्विहारं मुनिः, आत्मा० ॥१६॥

यत्राऽऽशरुति समुज्झितपदा चन्नुयुगेऽपण-

यत्रावास उदीरितो मुनिगणान् रक्षाधमो ब्रह्मण ।

रासो जीणमनृतन न च परैरन्यं घसीतान्वह आत्मा० ॥१७॥

पण्णा जीवनिऋयगात्रर्त्यमुमता ज्ञाता स्वरूप षध,

त्रैध त्रैधमुदारधी परिहरेत्तेषा तवोपस्यते ।

म्याद्योग्योऽत्र मुनीश्वरोऽत्यजिनपे तीर्थे तथाऽऽरम्भते, आ० ॥१८॥

पर्यायेण युत समाहितवया स्यात् सूत्रलायी मुनि-

ऋटेदाता तु यदा भवेत् परिणतो योग्य ध्रुताना मत ।

आचारस्य प्रकल्पने क्षम इह म्याद्धमदेशी मुनि , आत्मा० ॥१९॥

उत्सर्गपरदादनैश्च विविधैर्युक्ते श्रुते सार्धके,

योऽर्षीती न गीतायतामधिसरेद्योग्यो मुनीन्द्रे पदे ।

मद्घोऽयेनमधिभयेच्छ्रुतत्रिधौ मोक्षकृतानोऽत्र श्राक् , आ० ॥२०॥

गाहस्थ्येऽयमुत्रास वेपमसृत्तत्साधुभावे त्यजेद् ,

ज्ञातेयांश्च त्रिचित्रसद्गसहितान् द्रव्यस्य सर्वं घनम् ।

निस्मङ्ग प्रतिप्रयत्नित्तमना देशेषु यत्राटति, आत्मा० ॥२१॥

यत्रस्थ प्रतिपादयेज्जनगणान् धर्मं विना निम्निति,

गुच्छाना प्रतिपूर्णैभययता हिंसात्पिपोऽज्ञानान् ।

घानाथै सहित मुदर्शनमतिपुष् सद्घत क्यापयन्, आत्मा० ॥२२॥

यत्राऽऽख्याति जन सुपममनिश धर्ता प्रकल्प्यस्य य ,

स्थाग्न्यु सयममार्ग आगमरुचि सत्त्वोद्धर्ता सोद्यम ।

म्याद्योग्योऽयमनुब्रयन्न तु परस्त्वान्यायको नत्तक , आत्मा० ॥२३॥



देवं मोहमहाभटोज्झितिपरं सर्वज्ञसर्वेक्षणं,  
शक्राद्यैः सुरसार्थपैर्नियमतोऽर्च्यं पादयुग्मं सदा ।  
यस्याशेषपदार्थद्वयवच इह ख्याति स्थितोऽत्रोद्यत, आत्मा० ॥२४॥

सर्वारम्भपरिग्रहाद्विरतदृक् शास्त्रार्थपाठे रतो,  
लीनः संयमसाधने परतपा मोक्षार्थचेष्टापरः ।  
यो भवतीह मुधैकजीवनपरः सोढोपमर्गावलेः

( तं ख्याति धर्मे स्थितः ) आत्मा० ॥२५॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तकरणैर्भुक्ति वदन्नत्र स-  
न्नादिन्यसनानि नीतिमितिभिर्गम्यानि तत्त्वानि च ।  
निर्देशादि-सदादिभिश्च मीलितै रोधाय कर्मावलेः, आत्मा० ॥२६॥  
एकाक्षादिक्रमान्मता मतिभिदाः श्रौतस्य सावर्णिकितः,  
स्थानान्तर्यमुखाश्रिता भिदवधौः ज्ञेयात् पुनर्मानसे ।  
सर्व द्रव्यमुखं तु बोधति विदान्त्ये ख्याति यत्संश्रितः, आ० ॥२७॥

स्यादात्माश्रितभावपञ्चकमिह जीवावृतीनां क्षया-  
च्छान्तेर्मिश्रणतो द्वयोरुदयतोऽनादेर्भवाज्ञामनात् ।  
ख्येयं कायविधानसंयुतमिदं सोपक्रमं जीवितं, आत्मा० ॥२८॥  
यद्दानाद्भवतीह कर्मफलतो वेद्यं भवेत्कोटिशः,  
कायो जीवितमीदृशेऽनुभवतां श्वश्रेषु देवेषु च ।  
अत्राख्याति चतुष्टयं गतिभृतां निर्विण्णतालन्धये, आत्मा० ॥२९॥  
संयोगोऽसुमतां मिथोऽणुविततेर्लोकप्रमाणात्तकद्,  
धर्माधर्मनभोऽन्वितात् परिमितिभाजोऽणवो नासवः ।  
कालोऽनन्त इतीह षट्कमुदितं द्रव्यस्य याथाथर्वतः, आत्मा० ॥३०॥

जीवे कर्म लगेत् यदाश्रयततेरात्त स चाक्षात्रतै-

र्युस्तैर्योगफपायनेरिप्रिधतो यत्कर्म वेद्य भवे ।

मिथ्यात्वेन रूपाययोगसहितेनात्रात्मलग्न मत, आत्मा० ॥३१॥

हिंसाद्या श्रुतवेदिना प्रतिपद वर्ज्या प्रतिज्ञाविधे ,

शेषाणि त्रिदशामुतोऽघनिचयाद्यद्वा ततोऽमी तव ।

तद्वन्त समितादिभूरिगुणिनोऽत्रोक्ता तप साधना , आत्मा० ॥३२॥

ससारोऽयमनात्किोऽन्तकजराकीपाऽसुखाना रनि-

रच्छेद्यो मतिमद्विराप्तुमम्मज्ञानान्पिपूण शिरम् ।

लोकामाश्रितजन्तुपु स्थितिधर रयातीति यत्राश्रित , आ० ॥३३॥

द्वेय दानमपापकेऽघरहित धमाद्यमे सत्सखा,

दु खिप्राणमुतोपरु गतभय धृत्वा दया हृद्गताम् ।

जीवाद्यथत्रिवोधन च भविना ज्ञानेऽत्र दान मत, आत्मा० ॥३४॥

घोषो हेय उपेत्य तापप्रत्र(निपु णो मानोऽन्तदृन् सन्नते ,

विश्रम्भैरुविघातिनीं परिहरेन् माया पन् स्त्रीविद ।

लोभ सर्वविनाशपाटवधर जह्यादिति ग्यायते (होक्त सत्), आ०

पूत्रं यत् सुकृत चित नरभवात्प्राप्तिस्तत सङ्गता,

ज्ञात्वा दु खफल न किं सफल्येत सदर्शनात्पान्ते ।

दौलभ्य पुनरम्य चोह्यकसम बुद् गोत्रतस्वेह वाक्, आत्मा ॥३६॥

नित्योऽय परिणामयान् वितनुते सङ्ग वियोग सदा,

कर्मालेर्हननादितोऽप्रियभुवोऽन्यन्या विरक्तेस्तत ।

सिद्धयै सन्ति सुदशनादिवगुणा मत्वति सिद्धान् मरे , आ०

कर्मालिप्रभवो भवो न विहितो दुःखैकरूपा विभुः,  
कर्त्ता नाऽस्य न चापि दुःखसुखयोः स्यातां तु कर्माश्रिते ।  
ते प्रत्येकमिहाङ्गिपु प्रयततामित्याह यत्संश्रितः, आत्मा० ॥३८॥

हेयादेयतया भिदाऽर्थनिचये ज्ञानोत्क्रमात् प्राणिनां,  
पाट्याऽजीवततेः सदोपकृतिपु पुण्ये च पापे क्रमो ।  
कर्मानुक्रमगो गुणेषु विलयात् पाट्याश्रवे सम्मता,  
प्राप्यत्वेन च संवृतौ बहुगुणोद्दीप्तिक्रमो निर्जरे ।  
बन्धे छेदक्रमो मतोऽचलपदारोहस्य श्रित्वा गुणान्,  
मोक्षे धीपदगः क्रमो नवभिदि प्रोत्साहिकास्तद्भिदः ।  
तत्त्वानां मतमाश्रयद्भिर्जिनपस्योच्यन्त आप्तुं शिवं, ॥३९॥४०॥

यामेऽन्त्ये निश उच्यतेऽत्र विलयः सुप्त्याः स्मृतेरर्हतां,  
स्वाध्यायं चरमांश आवसनतामर्कोदये लेखनाम् ।  
पादोने प्रहरे तु भाण्डलिखनं सूत्रार्थपाठो द्वयो,  
भिक्षा वाह्यगतिद्वयं तु तृतीये लेखां सशय्यांशुके ।  
पात्रेऽन्त्ये प्रहरे तु दैनिकगतां कुर्यात् पडावश्यकीं,  
व्युत्सृज्याखिलपापसन्ततिमथ स्वप्याद् द्वयोर्यामयोः ।  
शेषे धर्मसिते तु मोक्षगमके ध्याने च काले हृदि, ॥४१॥४२॥

यत्रोज्झितानि मुनिभिः सकलानि कर्मा-

ण्याप्तं पदं त्वविकलं परमात्मरूपम् ।

तान्येव वन्दितुमनाश्चरतीह साधुः,

श्रेष्ठं तदेव चरणं भविकाः श्रयध्वे

॥४३॥

तीर्थ सिद्धगिरिं स रैवतमथो सम्मेतमष्टापत्,  
 चम्पा पुरीमपापिका गिरिमथो त्रैभारमप्यनुत्तम् ।  
 तारङ्ग त्रिविधातिशायि त्रिनपोपेतानि सेवेऽत्र स्नाक्, आ० ॥४८॥

मोक्षस्याप्तिरूपारूपधरणे सदृशनात्रिश्चये,  
 तद्वेतु प्रतिबन्धकार्यमनन ज्ञानात्सुधामोत्रात् ।  
 चारित्र त्विह कमन्धत्रिलये नन्याप्रहेणान्विते, आत्मा० ॥४९॥

ये ये बन्धनहेतवो भवभृता कायात्तिप्रायिका-  
 स्तांस्तान् व्युत्सृजतीह प्रेत्यगमने म्यादन्यथा बन्धनम् ।  
 प्रेत्यापीति त्रिवेकरत्नमसम ध्यायेत्सुपीरत्रग, आत्मा० ॥४६॥

प्राणात्तेऽनघा दधीत मुनिराट् सलेग्गनासयुर्ता,  
 देवादीन् प्रतिभून् विधाय सहने स्थिर समाराधनाम् ।  
 ध्यानान्त्रिकगोचरा विधिपर शल्यानि हत्वा सुधी  
 (ऽत्र बुद्ध्) आत्मा० ॥५०॥

आम्नात फलमत्र धर्मकरणे स्वर्गापत्रगद्वय,  
 गर्ताशूकरसम्मिता अपि जडोद्भूते सुखे सान्त्रा ।  
 गौणीवृत्त्य ततोऽग्निम परफल वाञ्छेत् सदाऽत्रोत्त, आ० ॥५१॥

देवे धमयुते गुरौ च न यथा रागोऽध्वन्धश्मम,  
 सम्यक्त्वान्निगुणात्रलेर्विमलताऽम्मादेय वस्तुस्थिते ।  
 तद्वन्मोक्षपदेऽमिलाप उन्तितो धैरायसद्द्वर, आत्मा० ॥४९॥

अज्यन्ते सुधियाऽत्र चे परितरा अर्थाभ्यो यत्नत-  
 स्तेऽत्रय मरणान्तमाप्य त्रियुजिं गतार आप्या न ते ।  
 फमक्लेशवियोगतो निजगुणा आप्ता शिचे स्थायिन, आ० ॥५०॥

नष्टो नैव समुन्मिलयपि परो बाह्योऽर्थ आत्मार्जितो,  
 नष्टोऽप्येति पुनस्त्वपार्थभवतोऽवश्यं दृगादिर्गुणः ।  
 काष्ठां चैप हि गति शुद्धिपरमां तत्तत्र कार्या स्थितिः, आ० ॥५१॥

ज्ञानादित्रितयं मतं नियमतो यद्भावलिङ्गं मुने-  
 र्द्रव्येणापि रजोहरं मुखपटीपात्रं सचोलांशुकम् ।  
 लिङ्गं स्वान्यदुरापधर्मजननं धार्यं सदाऽत्रोदितं, आत्मा० ॥५२॥

चारित्र्यस्य भवन्ति जन्मनि परोलक्षाः समाकृष्टयो,  
 वेपेणास्य चरित्रचारुमतिता तावत्प्रमाणा भवेत् ।  
 वेपेणैव वन्द्यतामनुगतश्चक्रीह शक्रादिभिः, आत्मा० ॥५३॥

इत्सर्गेण हि कोऽपि न प्रतिकृति कुर्याद्भदानां मुनि-  
 श्वेत्रो तिष्ठति धर्मशुक्लमननं कुर्याद् द्वितीये पदे ।  
 शोधिर्दोषतलेः पुनर्न गृहिता ध्यानं शुभं चोद्भवेत्, आत्मा० ॥५४॥

अश्वे हस्तिनि गोव्रजे जनगणो भूपार्थमाभूषणा-  
 न्यारोहेन्न च तत्र ममता काचित् पशूनां भवेत् ।  
 तद्वत्संयमसाधनाय यतिनां मुक्तोपधौ मुक्ता, आत्मा० ॥५५॥

यावद्भ्रामधधारयन्नृपवरः स्तेनं महालोप्त्रिणं,  
 सन्मानेन ददन्तमर्थमतुलं छेदेऽस्य शूलीकृतः ।  
 तद्वज्ज्ञानगुणादिलाभमनुयन् धर्ता परस्योत्तमः, आत्मा० ॥५६॥

चारित्र्यं न परत्र गच्छति समं जीवेन बोधादिव-  
 द्ब्रज्रादेरिव बालकाल उदियात्संस्कार एतद्भवः ।  
 अत्रैतद्गतचेतसां न च पुनः प्राक् तद्प्रजेत्पाल्यतां, आत्मा० ॥५७॥

देवा दीघप्रगा भवन्ति चरणादेशप्रताना भवान्,  
 तत्प्राचुरमयस्य तस्य निपुण प्रती च ससारिता ।  
 जन्तोर्भाव्यनुा प्रयत्ननिन्ऱ साम्य तु प्राण्यर्नित, ॥१८॥

समारे सृणसाधिते मुनिवऱ वल्याणकोटीं श्रयेद्  
 या ता नैव सुरेन्ऱसार्थनिचयो गच्छेन्नपण्णोऽनघे ।  
 ज्योतिनैव तथा रवेरिव परे ज्योतिर्धराणा धने, आत्मा० ॥१९॥

राधावेधसम मुनेभ्य इह म्यादतिमाराधन,  
 प्राचुय यतिना तु वेदवस्य शुधूपका साधय ।  
 १ म्यात्तन्ऱयमन्तरा मत्तिमता योग्य मदहागमाद्, आ० ॥२०॥

आयुऱस्य विभाव्य नाशमखिल दुर्गान् ममाराधन,  
 मृतीद्रान् प्रणिपत्य सर्वनियमानादत्त उद्धारकान् ।  
 साश्रीष्टन्य जिनादीकान् पुनरपि प्रोत्साहयेत् सद्ग्रते, आ० ॥२१॥

गच्छस्थान् सखलान् श्वमेत मशिशून् आट्टयसाधुंश्रिया,  
 जात यज्जनुषाऽऽगमत्रयोऽनाट्ट्य चीणं तद्वत् ।  
 आचार्याथितयाचकान् समनृषान् पिप्यादिषान् सन्मना, ॥२२॥

जैनेऽप्राखिलसङ्घा छट्टुलगाताऽऽवालऱद्धान् मुनी-  
 ता जमायधि चकृत तनुवधश्चित्तैरनिष्ट पृथे ।  
 श्राम्येक्षण भवान्तरे पृथगतो न म्यात् पुनर्दुऱ्म, आत्मा० ॥२३॥

जीवा ये भवन्तालगत्स्यमदशा मद्धऱलाभोजिज्ञा-  
 म्नाऱ क्षाम्येन रशृहयेऱ यन्न दुरित यध्नीपुराभिल माम् ।  
 आग्न्ता न भवे भवत् परिगता यैरस्य धुद्धिऱया (न ), आ० ॥२४॥

जीवानां भवतीह पूर्वभवगो द्वेषोऽपि रागोऽपि च,  
 प्रत्यक्षं तु विना स्मृति गतभवद्वेषादिहेतूद्भवाम् ।  
 तद्वद्वैरपरम्परां विबुध्य मतिमान् सर्वेषु कुर्यात् क्षमां, आ० ॥६५॥

नीतो देवेन युग्मी सुरभवनसमात् क्षेत्रता वैरहेतोः,  
 श्वभ्राप्तेर्योग्यमायुस्तनुमुखलघुतां प्राप्य धामेति मत्वा ।  
 स्थाप्यं केनापि नेदं मनुत इह भवी क्षामणं तद्विधत्ते, आ० ॥६६॥

लब्धेऽपि प्रभुताधरे जिनपतेर्जन्मन्यशेषाङ्गिनां,  
 मुक्त्यर्थं न तु वैरमाप चलन दैत्यस्य गोपस्य च ।  
 पार्श्वस्थान्त्यजिनेश्वरस्य मतिमान् ज्ञात्वेति वैरं त्यजे-दात्मा० ॥६७॥

पापानां परिहारमेव कुरुतां सर्व जगन्मा च भू-  
 हु खानां भवनं पदं तु लभतां नित्यं महानन्ददम् ।  
 युज्येतेदृशचिन्तया न विदुषां वैरं ततस्तत्त्यजे- दात्मा० ॥६८॥

सर्वाङ्गिष्वविशेषतः सुखमतिश्चेद्धारणीयाऽन्वहं,  
 पीयूषोपमिता तदा कथममी वैरस्य पात्रं विदाम् ।  
 सञ्चित्येति विषोपमामरिमतिं जह्यात् समेष्वङ्गिषु, आत्मा० ॥६९॥

यत्रेक्षेत गुणांशमात्महितदं नम्रो भवेत्तत्र ना-  
 तच्चेन्मोदपदं सुधी हितकरं द्वेषेण किं दह्यते ।  
 मत्वेतीह सदा भवेद्गुणपदे वैरस्य नाशे यतः, आत्मा० ॥७०॥

जीवाः सर्वमिदान्विता निजनिजाऽदृष्टेरिताः संसृतौ,  
 चित्रां योगसमुद्भवां विरचयन्त्यात्माश्रितां चेष्टिताम् ।  
 केषाञ्चिद्भूवितव्यता न सुभगा किं तत्र वैरेण भोः, आत्मा० ॥७१॥

प्रध्याया त्रिविधा त्वाग्निह्ननादीना पदाना वश,  
नीता येऽत्र जनौ पुरा भगतेनाज्ञाननिश्चभृता ।  
त्रैध त्रैधममुष्य पापसदनस्याऽस्तु व्ययो दुष्कृते, आत्मा० ॥७०॥

लोभाद्वास्ययुताद्भयान्च यदवग् मिथ्या क्रुधा सयुत-  
स्तमे सप्रभोदधिं परिगतो भूयाद्वथा दुष्कृतम् ।  
द्रयेणेदमलोकलोरविपय कालाध्वभावेपु च, आत्मा० ॥७१॥

ग्राह्य धार्यमदत्तमात्तममतिं श्रित्वा मया यद्भवेत्,  
तत्सर्वं विन्धामि दुष्कृतपद मिथ्या शुभेनात्मना ।  
प्राणा यन् रहिरर्थजातममुपु प्राणप्रदोऽर्थप्रद, आत्मा० ॥७४॥

तैरश्च सुरज च मर्त्यजनुपो यत्सम्भवेन्मैशुन,  
यत्तत्साधितमल्पितात्ममतिना कामान्धताधारिणा ।  
तत्सर्वं परिहायतापदमद आत्मायत प्रापये- आत्मा० ॥७५॥

दुस्वाना रानिरेप यो बहुविध सङ्गो घनादिग्रहे,  
नातोऽन्यजगतीह जन्तुविपय इश्येत सद्गम्भयम् ।  
तत्सर्वं परित्यज्यतापदमयेत् सङ्गो घृपाङ्कश्रिता, आत्मा० ॥७६॥

ससारस्य मतो महान् परिकर क्रोधो यतस्तद्वशा-  
ज्जतुर्नैव हिताहित विमनुते दग्ध क्रुदभिं श्रित ।  
जीवे तापकर त्यजामि तमह श्रित्वा सदाराधनां, आत्मा० ॥७७॥



वर्गस्य त्रितयस्य चः प्रतिपदं धातं विधत्ते मद,  
 आचार्यादिगतं भनक्ति विनयं बालान् समुत्साहयन् ।  
 तं सर्वं विनयामि सत्पथगतः शृङ्गाष्टकैः सद्गत, आत्मा० ॥७८॥

माया नागीव नित्यं परदररमणा जीवितान्तं करोति,  
 चारित्रं पालयन्तो मुनिवरवृषभा भ्रंशमायान्त्यमुष्याः ।  
 मल्ल्याद्यास्तन्यजेत् तां मुनिवृषभ इतो मार्गमार्थेशदृष्यं, ॥७९॥

लोभः सर्वगुणोज्झितः स्थितपदं यो याति सूक्ष्माञ्चितं,  
 यावत्सद्गुणधारणं मतिमतां दुश्छेदभूमिं गतः ।  
 तं सर्वं परिहृत्य संयमवतां मार्गेश्चुना संस्थितः, आत्मा० ॥८०॥

रागः प्राणभृतां स्वरूपरमणप्राणापहारे पटु-  
 र्यद्दष्ट्रो गणयेद् विपर्ययमतिर्वाह्यं पदार्थं निजम् ।  
 मायां लोभयुतां विशेष्य तनुमाँस्त्यागस्य धामैप तद्, आ० ॥८१॥

इष्टं हन्तुमुपस्थितं स्वहृदये दृष्ट्वा समुद्भावयेत्,  
 प्राणी द्वेषमनाहतः स्वरमणे वैरानुबन्धप्रदम् ।  
 रूप क्रोधमदात्मकं प्रकटयन्त्यन्तस्ततस्त्यज्यतां, आत्मा० ॥८२॥

रागद्वेषवशाकुलाः प्रतिकलं मज्जन्ति बोधादिकं,  
 हित्वा साध्यमनर्थकारिकलहे सर्वस्वनाशे रताः ।  
 तत्रैकक्षणमस्य दातुमुचितः स्वस्मिन् प्रवेशो बुधैः, आत्मा० ॥८३॥

रागाद्याक्तमनाः सदा प्रयतते श्रेष्ठे मते सद्गुणैः,  
 सत्यान्यैः परिपातितु गुणपदाद् दोषैर्जनानां पुरः ।  
 अभ्याख्यानमुदीरयेत् कटुफलं तत्सर्वदाऽदस्त्यजेत्, आत्मा० ॥८४॥

य शक्ता न हि शुद्धमागगमनेऽन्यान् पातयालुस्ततः ,  
 प्रीतिं सन्नरगोचरं त्रिभयति प्रोच्यानृतं यद्रुचम् ।  
 सत्पैशून्यमिदं सतामघपदं त्याज्यं सदात्मैषिणा, आत्मा० ॥८५॥

ह्यप शोकयुतं समैति कुमतिरथेषु जीवितरे-  
 ष्वज्ञानान्धतया स्वरूपपरमणं त्रिस्मृत्य भोगानुगं ।  
 कर्मानुक्षणमेव आत्मनियतं पश्येत्तदेतौ त्यजे- दात्मा० ॥८६॥

धर्माद्यं न चतेत यो निजगुणभ्रशात् परास्यैरुदृक् ,  
 सोऽन्येषां वदतीह दूषणपदं सत्यं तथा धाऽन्यथा ।  
 तद्वर्ज्यं परिवान्न परगतं मद्भिः सदा निन्तितं, आत्मा० ॥८७॥

प्रायेणोच्यत आन्तरेण त्रितयं मुग्धान् परान् पञ्चितु  
 तत्सत्याभमुदीरयन्ति मनुजा मायां प्रयुज्यामृतं ।  
 त्रिभुक्ताङ्घ्रिनाशने पदुतरं मायामृषां तत्त्यजे- दात्मा० ॥८८॥

श्रद्धते ननु पापधामप्रिततिं हेयाञ्च मन्चेतसा,  
 यं म्यादूर्जितमानसो जिनवचपीयूषपाने रतः ।  
 मिथ्यागाल्यविनाशतस्तत इदं व्युत्सजनीयं दुर्धं, आत्मा० ॥८९॥

पापस्थानविरक्तचित्तलतिको भूयान्निःशवाणाप्रितो,  
 हत्वा दुर्गतिकारणानि मतिमान् सद्दयानसिद्धिं धयेत् ।  
 रक्तोऽनादिभवेषु तत्र न हि तत्त्यागं त्रिना श्रयसी, आत्मा० ॥९०॥

यत्राऽऽत्मा नितरामुपति मननं न ह्यस्ति मे किञ्चन,  
 नैत्रान्यम्य जनस्य सयुतिकरोऽहं किन्तु मित्रं स्वयम् ।  
 आमानं त्रिभुक्मेव मनुने शश्वन्चिदानन्ति, आत्मा० ॥९१॥

संसारे भ्रमता कृता बहुविधाः संयोगसार्थाः परं,  
प्राप्ता दुःखपरम्परा प्रतिभवं जीवेन कर्मार्जनात् ।  
ज्ञानाढ्यं निजमेदय जीवमधुना सर्वा त्यजामि त्रिधा, आ० ॥९०॥

संयुक्तं भववारिधावसुमतां जातं न कैर्वस्तुभि-  
स्तत्सर्वं स्थितमेवमेव न पदं जीवानुगं प्रेत्य हा ! ।  
तन्मे शाश्वतरूपमेदय रुचितं ज्ञानादिरूपं शुभ- मात्मा० ॥९३॥

ये केचिन्निजकर्मपाशपतिता भ्राम्यन्ति लोकेऽसव-  
स्ते सर्वे क्षमयन्तु मेऽमतिकृतं निःशेषमागःपथि ।  
स्थित्वाऽहं क्षमयामि वैरमधुना त्रिध्वं त्रिधा यत्रगः, आ० ॥९४॥

प्राग्जन्मार्जितपुण्यभारसहितं भुङ्गन् जिनाह्वं त्वयं,  
गर्भे जन्मनि दीक्षणेऽन्त्यविदि च प्राप्तौ शिवस्याखिले ।  
विश्वे सातमुदीरयन् शिवपथोद्देश्यत्र मेऽस्तु प्रभुः, आत्मा० ॥९५॥

यैरष्टादशदोषसन्ततिरलं प्रोद्वेष्टिताऽऽत्माश्रयात्,  
प्राप्तं केवलमुज्ज्वलं सुरपतिव्रातेन पूज्याः सदा ।  
मोक्षान्ता कथितार्थशुद्धविभूतिः सङ्घाय तैर्नाथता, आ० ॥९६॥

कृत्वाऽनादित आत्मनि श्रितमिह कर्मेन्धनं भस्मसा-  
दासाद्याव्ययबोधसौख्यवलदां शक्तिं स्वरूपात्मिकाम् ।  
सिद्धास्ते जगदुत्तमाः शरणदा माङ्गल्यकाराः सदा, आत्मा० ॥९७॥

सोपाध्यायमुनीश्वरा गणिवरा मोक्षार्थमाप्तुं यताः,  
साहाय्यं भविवित्त (चीर्ण) धर्मविधिषु प्रत्यक्षमाविभ्रते ।  
श्रेष्ठत्वं शरणं च मङ्गलविधिं चाहन्ति तेभ्यो नमः, आत्मा० ॥९८॥

धर्मा यो जिनदेशितोऽन्ययत् नेतु जनान् यश्चमो,  
यश्चामीकरवत् कपेण सहितश्छित्तापयुक्त पुन ।  
जन्तूना हितदेशको भवतु सोत्तसोऽनो मङ्गल- मात्मा० ॥९९॥

धन्योऽह भवप्रार्थियानतुलित लब्ध मया शासन,  
जैन स्यात्पत्सयुता गिरमुशत् सर्वासुमत्तारकम् ।  
निपक्ष समनीतिरादकलित यत्रास्थया स्याच्छिव- मात्मा० ॥१००॥

धन्यास्ते मुनय समेत्य जिनपस्येत् वर शासन,  
प्राणान्तोपनिपातनेऽपि न जहु श्रेणेरुपद्राविणाम् ।  
मुक्ता कमधिनाशनात् प्रकटिताऽनुल्येन वीचण ये, आ० ॥१०१॥

शीपे रादिरवद्विनाहमसहत् श्रीनेमिशिष्यो गतो,  
घालोऽनालपराक्रम श्वशुरत प्रेतालये सस्थित ।  
निर्माण जिनराजसाधितमगात् क्रोधाग्निप्राम्बुद, आ० ॥१०२॥

धन्यास्ते मुनयो नमामि चरणाम्भोजेषु तेषा सदै-  
कोना पञ्चशती मुयन्त्रपीडिता ये सिद्धिमापु स्थिरा ।  
सत्य ये विविदुर्भिदामतिशयादात्माऽङ्गयोराऽऽशिव-मात्मा ॥१०३॥

धन्यो येन समाहितात्मविधिना कृत्वा क्षय धातिना,  
लब्धा केवलसविदादिविभूर्ति हत्वा समुद्घातत ।  
श्रेणेश्चेतरदुष्कृतावलिमिता सिद्धि शिवा शाश्वती, आ० ॥१०४॥

अन्त्ये योगनिरोधमाप्य विजहुर्ये वधन कमण ,  
श्रेण्या प्राप्तचित्त्वम्बुर्म्म निचय देहु सितध्यानत ।  
मुस्त्यौत्कारिकमुरयकायत्रितयीं सहघातहीना गता , आ० ॥१०५॥

गच्छन्तः शिवमार्गमेत जचिताकाशप्रदेशान् विना,  
 नान्याकाशगदेशसंश्रयमगुर्यद्वाऽस्पृशन्तीं गतिम् ।  
 आश्रित्याऽगुरवाधशाश्रतसुखं सिद्धान्तं सदा तान्नम,  
 ( सिद्धेभ्य एभ्यो नमः, ) आत्मा० ॥१०६॥

येषामूर्ध्वमलोकघातितत्तमाऽस्थाद् पूर्वयोगाद्गतिः,  
 कर्मासञ्जनभेदतोऽघजनिता बन्धच्छिदो वाऽऽत्मनः ।  
 स्वाभाव्याच्छरमुख्यवस्तुनिवहे चद्वत् सदैभ्यो नमः, आ० ॥१०७॥

गर्भो जन्मजराऽऽधिरोगनिचया नैषां भवेयुः पुरो,  
 निर्वाधं क्षतकालमानमपरावृत्तं शिवं शाश्रतम् ।  
 धामाप्येत जिनोदितात् स्वरमणाचारित्रतो मार्गै-  
 रात्मारामपदं स्मरामि नितरां चारित्रमत्युज्ज्वलम् ॥१०८॥

मालां चारित्रगुम्फां भव्विजनततये धारणायात्मशीपे,  
 ग्रन्थित्वैनां वदामि प्रतिपदसुभगां लब्धुमग्न्यामवस्थाम् ।  
 तेनावाप्नोमि शश्रत्सुखमयपरमानन्दधामेति याञ्चा,  
 देवानां सद्गुरूणां सुविहितयतिनां सत्फलाऽस्तु प्रसादात् ॥१०९॥

पूज्याराध्यपदानां नवकं जीवादीनां नवतत्त्व्याऽनु ।  
 पञ्चकमत्र महाव्रतनद्धं चैत्यादीनि च सन्ति तु सात् ॥११०॥

देवः साधुर्धर्मो रत्नान्याप्तुं ज्ञानं दृक्चारित्रे ।  
 इत्येषा गीता जैनीया पड्त्रिंशद्ध्यायसमेता ॥१११॥

## ॥ श्री आगम-महिमा ॥

आर्हन्त्य शुभसाधनैर्गमिमत कर्माऽपि घन्ध हित,  
 यच्च त्व त्रितय भवम्य भवनैर्गुण्य विन्न् गिष्टान् ।  
 तन्नून महता पराधपरता मत्या पर सत्फला-  
 ऽस्तावाप्यामलयेवल् यदि भणेच्छ्रेणिं सत्तागमीम् ॥१॥

प्राप्याऽशेषनगद्विलोकनपर मान निहत्याऽगुभा-  
 ऽन्ध्रेणिसफारमारवलयुक्त्रेण्या क्षपण्या प्रभु ।  
 द्वेन्द्रारलिमहतामतितरा पूजामविष्टाय च,  
 धुर्यघ्नागमसन्तति सफलताभाग् नान्यथा हि प्रभु ॥२॥

पूनाप्रौटो जिनेशो न नमति निरिलामीष्टसिद्ध्या वृत्तार्यो,  
 दवालिप्राभृत मत् सुट्टनवरुफल सेरयन् फद्विदन्वम् ।  
 धन्यः नूहामधर्मा नमति मुनिगण शोतयर् स्व कृत्तन,  
 यन्मेऽद् मज्जिनत्य मुनिगणपधृतागमादव जातम् ॥३॥

सुरविमरसरक्त मुनिमधुपमालिन सफलरणदायिन,  
 नमत तन्नमौलयोऽधिष्टतसत्फलोमय सत्तागमालिदर्शिनम् ।  
 फल जिनेद्रपादपे चरे गताधिसतपे सत्तागमोपदेशन,  
 तदेव तीर्थमुदिशन् भवालिमोऽभादिशन् सत्ता सुष्टासारको  
 जिनेश ण्य नापर ॥४॥

भन शास्त्रालिं भन शास्त्रालिं शास्त्रालिं भन शुद्धपते !,  
 जिनपतिगदिता गणपतिवितता पुनिजनमावरा विमलार् ।

नरभवनिकरोऽसमफलविसरो भावितभावो गतदोःस्थो,  
नम्रशिरस्को विगतरजस्को भवति नरस्तद्भजनमनाः ॥५॥

चलति जिनेशः सुरपतिविततादासनात् सिंहयुक्तात्,  
भविजननिचयं हतवृजिनचयं देशयस्तीर्थमार्गम् ।  
गणधररचिते विविधनययुते शास्त्रवृन्दे विधातुं,  
तीर्थानुज्ञां पूजाऽश्रुणां दर्शयन्नागमोक्ताम् ।

( प्रोत्थायाऽर्हन् विनयमनुदधदासनात् सन्धानः ) ॥६॥

सुरेशा नरेशा जिनेशा न सर्व, सुसर्वज्ञतालाभमिहार्चयन्ति ।  
अनुज्ञां परं कर्तुमिहागमानां, सदैवाद्रियन्ते गणेशितृपूजाम् ॥७॥

देवो गुरुधर्म इति त्रयं जने, भवाम्बुधेर्निस्तरणाय योग्यम् ।  
तदेव चेदागमवाङ्निरस्तं प्रतिक्षणं संसृतिवृद्धिकारि ॥८॥

पूजा जिनानां शमिनां सपर्या, धर्मस्य वृत्तिर्भविना शिवाय ।  
सा चेद् भवेदागमवाण्यपेक्षा, नो चेद् भवानां परिगृद्धिकर्त्री ॥९॥

एतदेव दुष्पमास्खलायितं, कर्म वा पचेलिमं भवद्विषाम् ।  
दक्षिणार्धसम्भवो यदेष ते, क्रियते सुकृतमागमादरः ॥१०॥

पूजा जिनेश ! भवतो भविना कृता सा,  
सम्यग् ( सेवा ) भवोदधितरिर्भवतीह जन्तोः ।  
सामायिकादिसुकृताचरणं ( महाफलं ) शिवाय,  
चेदागमोक्तिपरमान्तरमाप्यतेऽत्र ॥११॥

साम्राज्यं जिनशासनस्य न भवेदभ्यर्चनादर्हतां  
सूरीणां सततं महादरकृतेर्नो नैव चार्हन्मते ।

प्रोद्धावप्रभवैःकार्यकरणात् किन्तूत्यादाहताद्,-

वस्तु श्रोतृगणस्य चागमगतात् सद्वुद्धिरुच्योयुगात् ॥१२॥

मोघ त्वद्भजन जिनेश ! यमिना ससेवन सादर,

तीर्थोत्सर्पणहेतुधर्मललन जाग्रज्जगद्भासनम् ।

किन्त्वेतन् सकल भवेत्फलयुत चेदागमाना तव,

प्रजालेखन-सत्क्रिय यदि भवेत् पुसा जनुर्दुल्भम् ॥१३॥

कथ ज्ञेय वृत्त तव सुचरित दोषविकल,

कथ स्थाप्या मूर्त्तिस्तव जिन ! गताङ्गा शमरसा ।

कथ ते मोक्षाध्वप्रगुणगणोद्दाममुन्ति,

न चेत्पा शुद्धा भवति भुवने ह्यागमतति ॥१४॥

हास्याधायि जने धने मम विभो ! मौग्ध्य पर दृश्यता-

मात्तो यन्चिरकल्पकालचनितो निष्पत्तये शमणाम् ।

त्यक्त्वाऽध्यक्षसुरसार्पकान् सुनियतान् ज्ञातेयतीर्थान् श्रितान् ,

चेत्ते नागमसतति प्रभवति प्रोद्दाममोक्षाध्वने ॥१५॥

अध्यश्रमेतद्विदुषा प्रघोष्यते, यद् ब्राह्मतामेति समक्षमूहितम् ।

मृत चिरातीततर समाश्रयँस्त्या रिं ब्रवीमि जिनपागममान-

वध्यत ( वञ्चित ) ॥१६॥

न्याय सार्वजनीन ण्य विदितो यद्वीक्षिते णालके,

नश्यन्त्योदरिवे रुचिर्मतिमता जाड्यस्य जातादरा ।

तत्किं सारं ! मया जगत् सुविन्ति सौख्याकर सूक्षित,

हा ! ते ह्यागमसन्ततिर्न च मता पापात्मनाऽधीमता ॥१७॥



नरा जगत्यां किल साम्प्रतेक्षिणो, धरन्ति सञ्ज्ञां खलु दीर्घकालिकीम् ।  
साफल्यमस्या विदधाति विद्वान्स्त्वदागमोद्बुद्धभविष्यदर्थः ॥१८॥

कथं लक्ष्यो देवः प्रशमरसरतोऽबाध्यशिवगः ,  
कथं सूरिः श्रेयःसरलतरमोक्षाध्वधृतये ।  
कथं यस्या यामा भवजनिमृतेर्दुःखहतये,  
न चेत्ते साक्षात् स्यान्निरुपमकृतिर्ह्यागमगता ॥१९॥

तीर्थ तीर्थ जिनानां न तु जिनपतयः किं न दुष्टोक्तिरेषा,  
मान्या सा सर्वमान्यैः स्यद्यमुदितचरी श्रद्धयाऽप्यागमानाम् ।  
सत्यं सौरः प्रकाशः प्रभवति जनता ज्योतिपेनैव सूर्यो,  
नैषा सूर्यस्य हानिः स्वप्रभवसुषमया तद्वदाप्ते स्वतीर्थात् ॥२०॥

सुविदितं खलु सञ्जनसन्तते—र्यदधमं परदोषविकथनम् ।  
तदपि दृष्टिचरं नहि चेद् भवेत्, भवति सत्पददाऽऽगमसन्ततिः ॥२१॥

न्यायो यदेष जिन ! मानभरः स्ववोषे,  
यत्तेन बाधितमरं स्वहिताय जह्यात् ।  
नाथाऽऽगमावलिरसाञ्चितचित्तमारो,  
लङ्घ्येय मोक्षपदलीनमनास्त्वहं तम् ॥२२॥  
मत्तो जनो न जगतीह समीक्ष्यकारी,  
यत्सोऽधिगच्छति पदार्थमपेतमानम् ।  
सार्वागमोक्तिरसपानविमुखचेता,  
वेत्ता जगत्त्रयमिति प्रवलं न मानम् ? ॥२३॥

जगति जीवनजातमहो ! मतं, प्रतिक्षणं विशरारु रुग्दितम् ।  
तव जिनागमसञ्चितसंयमैः, प्रतिकलं पदमाप्येत उन्तमम् ॥२४॥

जिन । त्वत्प्रागमा मया विलोकिता न सौख्यदा,  
 यतो भवा अतीतभाविदुःखभावसभृता । १,  
 प्रदर्शितास्तर्कै पुनमुत्पास्पद तपे यतो,  
 विचूर्ण्य तान् पद लभन्त आन्यय ससाधना ॥२५॥

भक्तो जनोऽथ जिनराट् । सदागम-पानैरपीनो न वहिन चान्त ।  
 जानन् हि तत्त्व मनुते यत्प्राप्त-त्रिकालतत्त्वो नहि साम्प्रतेशी ॥२६॥  
 जिनागमाना महिमोद्भवाय, त्वया श्रिता या त्वमरस्त्वदथम् ।  
 संत्प्रातिहार्य रचिता सुपूजा, गताघभाजो जिनराट तथापि ॥२७॥  
 भक्ता गणेशा जिनराट तत्रामी, सार्वत्र्यभानान्वितसन्मुनीन् यत् ।  
 पिलङ्ग्य तिष्ठन्ति पुरस्तवेदं, रक्षाकर त्वागमजं पर बलम् ॥२८॥  
 वितन्वते मञ्जुलमङ्गलाप्रलिं, सत्प जिनाद्या जगतीह दीप्रा ।  
 पर नमस्कारकृतेस्तत्प्राप्ते, नमो भणन्तीह सत्प्रागमज्ञा ॥२९॥

नार्हन्त्य महिमास्पद तत्र जिन । श्रित्वाऽऽमरीमर्हणा,  
 नैत्राऽनन्यसमा श्रिय श्रयमि सत्रादिद्रमाद्युद्भवाम् ।  
 नैत्रानङ्कगणेन्द्रराजिरचनालब्धप्रतिष्ठोद्भव,  
 किन्त्वेपाऽऽगमसन्ततिगतमला माभाद् बुधाना कृता ॥३०॥

महन् सलु प्राप्तमिच्छशोऽभिध, त्वया जिनेन्द्रोदितसयमेन ।  
 पदत्रयीमात्रमिहापयस्त्व, सर्वागमाना प्रभवो विगीत ॥३१॥  
 य प्रान्त्यमात्रत्तमुपेयिवासो, जीवा भवे तानत्रतोषभाया ।  
 अज्ञानभावेऽपि सदागमा ये, कस्तान् स्तुयान्नैव सतत्त्ववेत्ता ॥३२॥  
 वृत्तघ्नताममतरा अमी सलु, जीवा यत्प्राश्रित्य ममोक्तितत्त्वम् ।  
 मामेव हाम्यन्ति भव लज्जत-सत्प्रा विद्वन्नागम इष्टदार्थी ॥३३॥

कृतघ्नता-दुष्टिधरान् समस्तान्, जीवान् भवात्तारयितुमुदकम् ।  
अभावयन्नूत्तमसत्त्वधारी, सदागमोऽयं सततं प्रवृत्तः ॥३४॥

सदागमाश्चैव सदागमा भुवि, कृतघ्नतां ये भवभावभाविनीम् ।  
विदन्त आश्रूपगतां नराणां, सदा सदानन्दपदाय मग्नाः ॥३५॥

अतितरां ननु नैव विराधितो, जिनपतिस्तनुते विविधां व्यथाम् ।  
करणयोगभुवा क्रियया पुन-र्यदि च ( भवति ) लेशत  
आगमजो विधिः ॥३६॥

विराधना या जिनराजराज्या, विशोध्यते सा गुरुनोदनाद्यैः ।  
परं विराद्धा विशदाऽऽगमाऽऽज्ञा, भवं दुरन्तं तनुते समेषु ॥३७॥

जिनोऽपि सावर्षो निखिलं विदन्नपि, प्रसङ्गप्राप्तं निरवद्यभावम् ।  
साधुव्रजोद्धारपदं न चानु-जानाति चेदागमवाग्-विरुद्धम् ॥३८॥

यदपि केवलमुत्तमतां गतं, निखिलबोधकता न परे यतः ।  
तदपि नन्दिपदं जिनपागमाः, क्षणपदं तत एत इहार्हते ॥३९॥

शुद्धेः पदं जिनमते भविनां यदाऽऽदा-  
वावर्त्तमन्यमधिगच्छति कालसौम्यात् ।

न्यायात् सदन्धकरणाद्बुचिरागमानां,  
जागर्त्त्यहो ! जनिभृतां (भुवि तदा) करुणाऽसमा वः ॥४०॥

नीतिः सत्तमगोचरा ननु जने पूज्यत्वदानं परे,  
चक्री यत्कुरुते महोत्सवपदं चक्रं स्वकं मोदतः ।  
सत्यं तद् भवतारकाङ्क्षितपदं भो आगमाः शाश्वता,  
ग्र्यं दत्थ जिनेन्द्रराजय इह प्रोदामपूजान्वितम् ॥४१॥

नयति नौस्तमम्युधिपारग, प्रवरपण्यभर फलमश्रुते ।  
 ननु च नाविक उत्तमता, तथा, ननु लभन्त इहागमतो जिना ॥४२॥  
 हेरा रेरा विदन्तो ननु जिनपमहात् पूनयन्तीह शास्त्र,  
 पूजा धत्ते च शास्ता प्रमुग्ध इह भुवो देशनाया प्रकामम् ।  
 सङ्घस्याप्तागमान् यद्वरति सुनिपुण सर्वकाल यतोऽसौ,  
 नीतिं लोकान् ददर्शाऽतनुमहिमभुव पूज्यपूजाङ्किता ताम् ॥४३॥

जगत्पतित्वमहता मत जिनेन्द्रशासने,  
 न मन्यतेऽमुना यत परस्पर विरोधभाक् ।  
 त्रिकालं जगन्न तु प्रभुप्रभावभाजन,  
 सदागमा मनातना जिनास्तदुपदशका ॥४४॥

कथ मायाद्विश्वे तिनप । तव यशो दिशु न्दशसु  
 दधौ जन्मान्ध यन् प्रवरनृपगृहे सत्कुलगत ।  
 गतोऽप्यन्ते मोक्ष न च तत्र विशेषो जगति नु,  
 त्वदुक्तो यन्नित्य तनुत आङ्गो महपदम् ॥४५॥

सदागमा सदा जनेषु धमभावधुरा,  
 जिना सन्वैव सान्तरा निरन्तरा इमे पुन ।  
 पर न शुद्धश दमात्ररूपधारका अमी,  
 सदेवरूपता परा दधत आपरूपत ॥४६॥

अतीतकाल आहती सनागमात्रलीमिमा-  
 मवापुराहता पन् सदात्मशुद्धिज परम् ।  
 श्रिता विशुद्धिमार्गतो निहाय समर्ति परा,  
 मुभायिनोऽपि तद्वदय वीर्तिराहता र का ॥४७॥

नरो भवेद्यदा पुनर्विधूतपापकश्मलः,  
 सुधर्मसाधनोद्गुरो विहाय कालमार्षकम् ।  
 श्रितो भवस्य यौवनं तदा ध्रुवं सदागमान्,  
 विचिन्त्य कार्यमादधाति मोक्षगामी च पुनः ॥४८॥

शस्यते समस्तधर्मवेदिभिः ; स मौनवो य आगमं समाश्रितः ।  
 दूपणं परस्य शंसने मतं, यतस्ततो भवति दृष्टिरावमी ॥४९॥

आस्तिक्यं किं मतं भो ! द्विविधमनुपमं लौकिकं चोत्तरं च,  
 प्रेत्यादेर्वुद्धिराद्यं गदितमनुभयं सार्वसूक्तागमेषु ।  
 नित्योऽनित्योऽपि जीवप्रमुख इह मतो मुद्रया स्यात्पदाङ्गया,  
 मोक्षान्तस्त्वागमोक्तेरिति मननमिहानुत्तरं चोत्तरं तत् ॥५०॥

सम्यक्त्वचिह्नानि शमादिकानि सद्भिः प्रशस्यन्ति तदैव चेद् हृदि ।  
 जिनेन्द्रदेवागमवासना-सुधो-क्षितत्वमीक्ष्येत वलीय आप्तैः ॥५१॥

शमोऽयनन्तेषु भवेषु चीर्णो, निर्वेदसंवेगघृणास्तितादि ।  
 परं न जैनागमसंस्कृतं तद्, जाता ततो नैव ममाभिनिर्वृतिः ॥५२॥

सदागमा भो ! कथमर्हणापदं, गताः सतां वर्णपदादिसाम्ये ।  
 उक्ता जिनेन्द्रैरिति चेत् तके कथं, प्रमाणमित्यन्यपदं न किं मतम् ॥५३॥

सदागमानां भगवान् प्रणेता, प्रघोष इत्थं न सुखाकरः स्यात् ।  
 उच्यन्त आप्तैर्ननु शब्दमात्राद्, न चार्थरूपास्तु वचो ब्रजन्ति ॥५४॥

वक्ताऽर्हन् भुवि देशनाश्रयगतोऽर्थस्याश्रितः सन्नरैः,  
 किं सत्यं तदुच्यते न पुरुषैर्वाच्योऽर्थ आनो मतः ।

सङ्क्षिप्ता यन्ति तन्निरूपणत्रया शक्य मन्त्रमिधा ,  
 त्तास्ते न तत्र परस्परगतितर्नात्तागमाना क्वचित् ॥५५॥

मन्त्रागमा । किं भवता महत्त्व, तुरंगशृङ्गाणि यतो न युज्यम् ।  
 स्याथप्रथमोऽन्यत्रचामि यद्वन् तिल्याप्रमाना इति विज्ञवीक्ष्या ॥५६॥

। जिन गणि वृष श्रयन् भव्री तपन् महातप ,  
 मुपुण्यराशिसाधनोत्तत्र वष्टमाश्रयन ।  
 यचोत्तिग न मुच्यते मन्त्रागमान्ते ननु, (भयन्मा)  
 यथार्थभावमाननाङ्गन्त इष्टमिद्वय ॥५७॥

जैतव्य ननु सिद्धमागममतान् मिद्धाङ्गिनान् माधुपान्,  
 पाठकयुक्तमुनीन मनेगदि भरी त्रैयान् गुह्यंश्राट्परात् ।  
 धर्म चाश्रयति प्रधानपदरीं प्राप्त सुदृष्ट्यादिफ,  
 तत्सत्व त्रिनिरागमम्य-जनतानि श्रेयसे साधनम् ॥५८॥

। आगम आप्ततमो यदि विश्वे, विश्वत्रिणा प्रणीताथपर स्यात् ।  
 न च हित्वा कपभेत्तपैस्तु, शुद्धि मोऽनुत आप्तपद तु ॥५९॥

पगभयकरणिजनिमृतिहरणिर्निचरलभरणिनगति परा,  
 जिनपतिक्रथिता गत्रपतिहमिता मुनिननिधितताऽऽगमरितति ।  
 नमनरात्त चरमारत्ते नियतमनार्त्ते मान तन्या,  
 गन्या त्रिनुधा आगममुबुधा गतसम्प्राया भवत मदा ॥६०॥

गण गण धन धन गण जिनपागममपहामरा,  
 हरण हरण धन धन हरण नञ्जितुर्गापुरिततते ।

धरणं धरणं वृणु वृणु धरणं निजगुणसन्ततिसारमतेः ,

स्मरणं स्मरणं कुरु कुरु स्मरणं (सरणं) संवरनिर्जरमोक्षगुणे ॥६१॥

शुक्ल पक्षं निश्रितममलं, रक्षसि भवधारिणमसुमन्तम् ।

कृतहा परमसुको यदिह त्वा-मागम ! याति निरस्य निवृत्तिम् ॥६२॥

शस्तः सार्वमुखैः संसारी यः स्यादागम ! तेऽध्वनि पान्थः ।

प्राप्तौ वीर्यमनाहतमन्ते भूत्वाऽतन्त्रः शिवमत्येति ॥६३॥

स एव सम्यक्त्वधरोऽशतो वा, पापान्निवृत्तो निखिलाच्च जीवः ।

सदागमा ! यो भवतामधीनः, परो भवामेध्यकृमित्वरूपः ॥६४॥

देवं गुरुं धर्ममल भवन्तं. सदागमाङ्गीशरणं समेतः ।

रहस्यमत्त्वेन समेति चेन्न, हहा ! मवाम्भोधितलं समेति ॥६५॥

शरणमेति जनो व्यथयाकुलो. यदि परं परिपश्यति पालकम् ।

भविजनोऽपि तथैव तवागमं, ननु भवन्तमपीड उपैक्षते ॥६६॥

अर्हन् सिद्धो गणपतिरूपाध्याय आत्तव्रतोऽसौ,

सम्यग्दृष्टिः शुचिमातिनिपुणः सद्ब्रती सुतपस्वी ।

चेत्ते शुद्धागमरससुधयाऽऽह्यो भवेद् भावभूति-

नांचित् संसारकूपे वलयमनुगतः संसरेन्नीच (निन्द्य) रूपः. ॥६७॥

जगति वित्तमशेषविदां मते, परिणमेत् परिणामधरः पुनः ।

ननु तवागमपूर्णविदात्मता समूलनाश उपैति कथं हहा ! ॥६८॥

पापं न जात्वेति यतं क्रियायां, गतिस्थितिस्वासनसन्निभायाम् ।

ध्रुवं समेतीतरथाऽवधेऽपि, परं विशुद्धागमसंस्कृते हृदि ॥६९॥

सत्तागमा वीचमनूनमयये, यत सजीवैतरबोधतोऽययम् ।  
फलति यूय निखिलाङ्गिव ग, यात्रद्भवद्भिर्न समोऽत्र विश्वे ॥७०॥

ज्ञानेन क्रियया च सङ्गतमिदं जैन मतं सद्यश्च ,  
सूते यत् परंशानानि न तथा साकल्यभाक्त्वान्ते ।  
तत्रापि क्षमते मतं प्रिहितं जैन क्रियाभिः परं,  
नो जैनागम ! शून्यता तत्र परं नैवाऽप्यमौ मुच्यते ॥७१॥

सद्दृष्टौ यदि वत्तने शुचिमना उद्यच्छते स्वात्मना  
चेच्छत्तस्त्रिकसश्रयाय न भवेज्जैनागमा शाश्वतम् ।  
स्थानं शुद्धमुपैत्यमौ वरमतिर्यं सश्रयेच्छुद्धितो,  
रूपं यद् भवतामनूनमहितं शेषद्वयेषु सक ॥७२॥

लाभो लोभफलं सल्लु प्रभुमते जेगीयते जैनैरै-  
स्तन्मध्येदयत आहतागममुधालाभे परा यन्मति ।  
प्रज्ञाप्यानखिलान् विबुध्य परतो, लुभ्येन्न कोऽपि श्रुते,  
चादो व्याप्नुत आहतं सल्लु भुवि स्याद्वादमुद्राङ्कित ॥७३॥

मनुत मनुत भावानागमज्ञानदिष्टान्,  
नहि परगतभावं स्पाशनादिर्विबोधय ।  
इह परजनरोधे हेतुरस्यागमस्य,  
न भवति सल्लु कार्यं कारणोद्भावंशून्यम् ॥७४॥

चक्षुःदेव जिनपागमवेदनं यत्, स्वान्यप्रकाशकतया निजरूपमीत्तं ।  
चित्रो विधिस्तत ईहागमदानं उक्तं,  
उद्देशनान्तिरपरे न विदा चतुष्पे ॥७५॥



जागर्षि जैनागम ! जन्तुजाते, बोधं समेतं क्रियया वितन्वन् ।  
विद्वद्धपर्यायमुनिः प्रदिष्टः, क्रमात्ततस्त्वत्प्रवीणैर्जगत्याम् ॥७६॥

बोधमुखानि पराणि मतानि, धिक्कृतसत्कृतमार्गगमानि ।  
नाऽऽगम ! जगति नु क्रियया रहितः, फलति ततस्त्वं विद्वृत्तात्मा ॥७७॥

सत्यं चक्षुष्पदमनुकुरुते ह्यागमज्ञानमग्न्यं,  
जैनं तच्चेद् विबुधपरिमतं नैव चारित्रहीनम् ।  
स्वं दावाग्नेरवति नियतं यः क्रियावान् स चक्षु-  
र्दहेताशु प्रतनुमतिकोऽप्राप्तसद्बोधवृत्तः ॥७८॥

आगमा ! जगति गृयमात्य यद्, वस्त्वपर्ययं भवेत् खपुष्पवन् ।  
ज्ञानमक्रियं नु तर्हि किं मुधा, खण्डयते क्रियात्र सद्व्रतात्मिका ॥७९॥

सदागमा ! भवद्भिरेप आश्रितो न यो भवे-  
न्न यद् ब्रजैद्विषादितां स सम्पदर्थको नरः ।  
न चेद्सङ्ख्यभागं निगोदमेकमुद्धृतं,  
सदा भवत् समीक्ष्य किं सदोद्यमोऽत्र वो विना ॥८०॥

न्यायस्त्रिलोकगतजन्तुगणे प्रसिद्धो,  
लब्धा श्रियो भवति यो भवतीतखेदः ।  
उल्लङ्घ्य तं ननु सदागम ! ते प्रवृत्ति-  
र्यत् खिन्नभावसजुपि श्रियमादधासि ॥८१॥

मयोः पृष्ठे भारो य इह न मायात् स गलके,  
निबन्ध्यो लोकेनाहतमिति लघुप्राप्तमतिना ।

त्वयाऽमाता भोक्षे न्नगर्तितले ते त्रिनिहिता,  
यथे मोहाङ्कगोदलननिपुणा आगम । नरा ॥८२॥

भयन्त किं स्तुत्या यदिह भयता ये स्तुतिपरा,  
भवान्त ते याता ननु च विमल निश्चिततरम् ।  
न तत्रात्मान भो । कथमपि स तत्त्व नयथ तत्,  
वृथापत्रो न्यायो यदुत न मुधा ययगतक्रय । (नयगति) ॥८३॥

मथा प्राप्तव्य द्वाग् जनननलघेस्तीरमचल,  
यन् सिद्धयेन्दुद्वागममत्तितति पूणघटना ।  
विसपादो नैयामलमतिजुपामत्र मुविधौ,  
पर नाह तद्विग्रहि च विपयोऽस्त्यागमतते ॥८४॥

महिमानममितमेति साऽऽगमालिराहती जने,  
यतो हितोपदेशश्चन्मुमुक्षुसाधुसर्प्रहापरस्परत्रिरोधनाक् ।  
जगति वीक्ष्यता पर नेतरा तथेति तर्कनाददक्षताधरा,  
श्रद्धया पर श्रयेयुरहदुत्तता यतो न चैत्रमात्रय परस्पर त्रिघातश्चन्  
सताम् ॥८५॥

आगमवृन्दमित महनीय पूर्वमिहार्हत्साधुवृपाद्,  
मानमिहास्य मत निपुणाना तद्गतगान्धयसुधासरणि ।  
चेत् गतमानमिहैतन्पात्र तत्रितय न कथञ्चिच्छिये,  
मत्वा सत्रमिद गतमाना मनुत सदा तत्स्यत उत्कृष्टम् ॥८६॥

कैत्रल्यज्ञानभाज समजिनपतयो द्रव्यकालाध्वभायै-  
र्जादीन् सबभानानमितपरिगतं पयय शुद्धरूपान् ।

बुद्ध्वा प्रज्ञापनायाः पदमसममितान् बोधयन्तीद्वबोधान् ।  
जीवाँस्तद् द्रव्यभावात्मकमितरदिहाप्तागमीयं श्रुतं स्यात् ॥८७॥

शमोऽसमं साम्यमुपैति चिन्तनात्, चेत्तच्छमोदन्तफलोहकं स्यात् ।  
तथोहनं नैव सरागशास्त्रात्ततः शमात्मात्मक आगमः शुभः ॥८८॥

आगम ! उद्वर मां भवभीतं दृष्ट्वाऽगम्यां तव गतिमीहा,  
कञ्चिच्छ्रुतमुत्तारयसि त्वं लगति न यत्र मुहूर्त्तमनूनम् ।  
कञ्चिदुपार्थविवर्त्तभवान्तर्लीनं कृत्वा तत उद्वरसे  
चित्रं कालं तावन्तं त्वं फलसि विलम्बं कृत्वाऽपि द्राक् ॥८९॥

आगम ! तव सेवापर आत्मा चेज्जन्माष्टकमपगतभेद,  
तद्भव एव भवेत् स निवृत्तिं पूर्णामात्मनि धर्तुं दक्षः ।  
उत्कृष्टां यदि तां मुनिरीर्त्ते तद्भव एव मुहूर्त्तोर्द्विर्वाग्,  
भवसि तटार्थी भववार्धेस्त्वं कुरु मयि रङ्गे लघु तां सिद्धिम् ॥९०॥

उत्साहस्ते विधातुं परमशिवपदं संश्रितानां नराणां,  
तेऽप्याप्तुं तत्सदोत्काः भवभयविधुराः साधनं ते तथैव ।  
कोऽत्रास्ति प्रध्वरां यो विफलयति समां सत्प्रवृत्ति भवान्तः,  
हाहा शुद्धागम ! त्वं मतिततिसनघां प्रेक्ष्य-कार्य विधत्से ॥९१॥

या यत्यतेऽङ्गिनिचयो लघुसिद्धिमात्तुं,  
शुद्धागम ! त्वमपि तत्पथपाटवोऽसि ।  
सिद्धिः पुनर्भविजनान् वरितुं समुत्का,  
सन्धत्वमेव विविधं विविधां (तु विधिं) विधत्से ॥९२॥

चित्र भयगत मत श्रुतिपरैर्भयत्वमत्राङ्गिना,  
 किञ्चिन्नैव फलेत् कदाचिदमत्र दत्त्वा पर कालगम् ।  
 वैचित्र्य प्रणिधाय मिद्धिपट्टं किञ्चिज्जिनेद्रागमा ।,  
 युष्मत्प्रोक्तमल चतु शरणमान्त्वा फलेत्रान्यथा ॥९३॥

गुद्वागम । त्व त्रिविध विधाना, यत श्रयस्तत्र गलु जीव आदौ ।  
 अहन् गणेशोऽपरकेवली वा, भग्नियतीति नियति विधत्से । ९४॥

एकस्वरूपोऽपि कथ त्रिचित्रा, ( विधत्से ),  
 सम्यक्त्वकाले हि तथाविधा जने ।  
 जिनेन्द्रमुख्यै सलु चित्ररूपै ,  
 फले फलन्तीमृजुमागमत्रियाम् ॥९५॥

आदिष्टा विधय सदागम । भयोत्ताराय ये ये त्वया,  
 यस्तांस्तान्निविलान् श्रयन्ति भगिन प्राप्तु शिर सोत्सुका ।  
 निर्माण परम त्रया फलतयादिष्ट पुरंवाऽऽश्रितान्,  
 वैचित्र्य किमनेहमो वृतमिहावल्लुप्रमादास्पदम् ॥९६॥

सदागम । त्वत्कश्चिताशया इमे, त्वापिरे त्वत्कथि ( द्वादि )  
 ताशयाङ्गिन ।

फल त्रिचित्र विधिधाद्धि कालाद्रक्ष्य महत्त्वं ननु हा । कथ ते ॥९७॥  
 नर्यर्षिहीन न च तेऽस्ति रूप, सदागमेमे च विचित्रताजुष ।  
 न चान्यपद्धयेऽनयाप्रितस्त्र, प्राह्यश्च धार्यश्च कथ नु पाच्य ॥९८॥

समप्रथमाश्रितस्तुत्राच प्रमाणतामिच्यति वाच आप्ता ।  
 नन्यागम । त्व नियतार्थधर्म प्रमाणभाषो ननु ते विना वृत ॥९९॥

श्रद्धायुर्तेर्ननु भवान् प्रमितिस्वरूपं,

नीतः सदागम ! सदापि यथार्थभावात् ।

वर्षागतं प्रवरवारि यथा गृहीतं.

वर्षेण वर्षमिति सद्द्गुदीरयंस्त्वम् ॥१००॥

भवात्त्रिचक्रचञ्चवोऽपि जन्तवस्तवेक्षणात्,

सदागमा सदागमा भवन्त्यनूनसद्गमाः ।

परं भवभ्रमोऽल्लघूनवाधवोधसद्गमा,

व्ययन्त आप्यते यदा त्वयोदिता क्षरावलिः (क्षितिश्रितिः) ॥१०१॥

वाच्या न या सद्द्विदुषां न गम्या, योगोद्यताना न च नेत्रगम्या ।

चक्षुष्मतां साप्युदिता त्वया वाग्, न तां स्तुते ह्यागम-

सद्गिरं कः ॥१०२॥

परापरागमेक्षिता न यावता निवर्तते,

परम्परागमेशिता न नाथ ! मे विवर्तते ।

परम्परागमोक्षितं पदं न तावताऽऽगमाः,

परम्परागमाश्रयद्विरट्यते न संसृतौ ॥१०३॥

जयवन्तमनन्तगमं सुगमं, विद्धन्निखिलार्थविकाशगमम्,

वरसंवरनिर्जरमार्गपरं, दुरितौघनिवारकसत्यधरम् ।

ननु सेतरजीवविवोधकरं, स्वकसिद्धियुतं परसिद्धिकरम्,

जिनराजमुखोदितवाच्यपरं, नमताऽऽगममुग्रतरं विबुधाः ! ॥१०४॥

आगममुखमावश्यकमग्न्यं, सामायिकमत्रादौ सर्ग्य,

दृग्ज्ञानाऽऽचरणानां नियमं, शपनमवद्यात्मकशमविपमम् (?) ।

त्रिविध त्रिविध कात्र भ्रू-सैकालिकदुरिताल्यपगम्यै ,  
जिननायकपथि निष्ठो मुख्य , २ म्यात्सामायिकमतिमरय ॥१८५॥

नर वृत्तज्ञो गुणनातमात्रितोऽपक तु तम्योत्तमतापनाश्रितम् ।  
ध्यायात्तनाऽन तगुणार्पक चतु त्रिं श स्त्र सौति परागम न क ? ॥१८६॥

उत्पन्नमर्धो प्रवर हि मौक्तिक दन्तु साधा त्रिपयाश्रित नरम् ।  
यत्रोपनारीह तथा मुनीशोऽपयच्चिनोक्त चरण प्रणम्य  
( क्तागमभठतीटनम् ) ॥१०७॥

प्राप्त चरण महिता जिनपा, नतयो त्रिहिता घ्रतिभिरपापा  
( नेऽपापा ) ।

निरतिचार तत सफल म्यात , प्रतिन्नमणागमतस्तत्सिद्धि  
( तुर्याध्ययनागमतस्तत्सिद्धि ) ॥१०८॥

न चाऽऽगसा दुष्कृतवाग्निगुद्धता, जने समेपा कतिचित् पुन क्रियाम् ।  
आगाम्यपेक्षन्त उदारसत्कृति, तथोन्मृज सचरणागमो ध्रती ॥१०९॥

सन्तोषो नत्र शास्त्रे न च धननिचितौ सञ्जनाना नराणा,  
मोक्षे यान समेता न हि विनयतयस्तुष्टता यान्ति धर्म ।  
तद्वत् प्राप्तो वरेण्य जिनपुरसुगते सन्चरित्र मुनीश ,  
प्रत्याग्यानागमाय सततमुन्तिर्धी सपरशयमुत्त्व ॥११०॥

जैने द्रागम उत्तमो यत इहाहारात्रिचेष्टाऽखिला,  
निश्रायाऽद्विदया समस्तममितीगुप्तीक्ष तिस्रो धरा ।  
तद्दशकालिकगाम्त्रयाम्यत्रिहित मत्या समस्त बुधा-  
गत पाठय शुभमाधवे धतन्निनात् समाधयन्ति ग्नुटम् ॥१११॥

चारित्रं विधियुक् तदा शिवपदाद्यालं भवेन्नान्यथा-  
ऽसौ गय्याहृतिवाससां यदि परामन्वेपयेदेषणाम् ।  
तां चैका वियुता दिशेद् वरतरा या पिण्डनिर्युक्तिवाक्,  
तत्तामागमसत्यतत्त्वविदुषो घोपन्ति मूलात्मिकीम् ॥१२॥

मान्याः सदैव विधयो विदुषां विदुक्ता-  
श्चेतोहरा यदि परं शुचितर्कविद्धाः ।  
ज्ञातादिभिरेदि भवन्त्यनुरूपरङ्गाः-  
स्युरुत्तराध्वयनमागममाश्रये तन् ॥१३॥

हिंसानृतादीन्यशुभावधामेत्युशन्ति सर्वेऽपि परे हि तीर्थिकाः ।  
पट्कायवन्धादिविदुस्तु विज्ञा आचारमङ्गं मनसा श्रयन्ति ॥१४॥

जातायां भूरि सम्पदीतरजनस्तैन्यादिजं साध्वसं,  
तद्वत्तीर्थिकसम्भवं श्रुतिमतश्चारित्रिणस्तद् ध्रुवम् ।  
अङ्गं सूत्रकृतं ततं गणधरैराचारसूत्रात् परं, (तत्तर्काङ्कितसंयमा-)  
तर्काङ्कं व्रतवाद्मागममिमं विज्ञाः श्रयन्तु श्रियै ॥१५॥

लब्ध्वा वित्तं गतचरटभयं श्रेष्ठिना गण्यतेऽष्टे,  
सौवर्णं तत्र मुख्यं गणयति तदिद्वार्थान् दशान्तान् सुदृग्वान् ।  
सङ्ख्यां कर्तुं मनसिं विधृतवाँस्तत्तृतीयं सदङ्गं,  
स्थानाख्यं ह्यागमज्ञैः प्रतिदिनमनघं श्रियते सर्वशुद्धया ॥१६॥

चिक्कणे चिक्खले (कर्दमे) काकिणीं वीक्ष्य विज्ञः,  
सदोद्धर्तुमीहेत तदानुबन्धम् ।

जिहीते न चार्थस्तदीयं प्रतीत्य,

समारयाति तुर्येऽङ्गशतान् समेयान् ।

समस्तेऽथ श्रेष्ठागम त श्रयध्वम् ॥११७॥

आत्पो निर्भाक आप्नोऽनघकनऋतति यो दधात्यथजात,  
सोद्युहस्ते पूर्वेऽश्यागतमुन्तिमनुमृत्य वृत्त सुशील ।

सद्धान् तद्द्वत्रागममतिनिपुण पञ्चमेऽङ्गे जिनेशा-

ऽऽचार्यानाश्रित्य मम्यग् नमत भगवतीभागम सत्प्रवृत्ता ॥११८॥

ममेत्य वश्यान् प्रचुरान् सयादान्, वृत्तान्वितांस्तत्र जनेषु त्रित्तम् ।  
नेतु समास्याधिक्या यतेत, ज्ञाताकथाप्यत्र तथागमेषु ॥११९॥

आश्रित्य वश्यान् स्थितिमीयुषा परा, वृत्तान् सुवित्तान् सुधीरातनोति ।  
उपासकाना परमा समद्वा मपोपमोपासक आगमे बुधा  
( विदाम् ) ॥१२०॥

स्ववश्यैर्यत प्राप्त विबुधनिसरै पृज्यपदक,

तदुत्कीर्ति कुर्वन् नितपरिक्कर यत्ननिपुणम् ।

तत्र फुर्यात् स प्रमुणिकलेद'शुद्धपथग-

स्तथा न्याग्या पूजा जिनपरिधिना षकृति तताम् ॥१२१॥

प्रवृत्ता मोश्यायाऽनघमतिधरा सद्घतजुषो,

गुन्त्वान् पापाना प्रभय इह नैराज्ययपदे ।

पर सत्यङ्कार विमलतरमाप्याचल्पद,

वश्या ये जाता स्मृतिरनुपमाऽनुत्तरकृता ॥१२२॥

ज्ञान समस्ति निखिलाङ्गभृतामनून,

भोगेऽत्र दु चमुरययोग्नुभावरूपम् ।



प्राग्बद्धकर्मफलमेतदिति प्रमित्य,

सुज्ञो विपाकमनुसंस्मरतीह शास्त्रम् ॥१२३॥

पापं पुण्यं च यत् स्याद् भविजननिचये निश्चयादाश्रवात्त-  
द्रोधः शक्योऽस्ति विश्वे श्रयति यदि पदं संवरात्मैकरूपम् ।

नाशोऽपीष्टप्रदाता ननु तत इति तद्वर्णकं प्रश्नपूर्व,  
सद्व्याकृत्या मुनिपसमुदितं श्रीयतां कर्ममुक्त्यै ॥१२४॥

दृढं श्रीदृष्टिवादं मुनिपसुकृतिभिर्विश्वगार्थप्रभासं,  
पञ्चाङ्गं द्वादशाङ्गं परिकृतिसहितं सूत्रपूर्वानुयोगैः ।

युक्त पूर्वैश्चतुर्भिर्दशगणकयुतैश्चूलिकैश्चित्ररूपैः,  
साधो ! स्तौतूग्रमुक्तः समश्रुतभणकं स्वागमं चित्रसत्तयै ॥१२५॥

श्रद्धा तर्कानुसारी श्रयति विधिगतं यत् सधर्मान्यधर्मं,  
ज्ञातं पट्कायहिंसादुरितविरतियुक् तत्प्रसिद्धयै ह्युपाङ्गम् ।

तीर्थ्याऽर्हन् मार्गयुक्तान् विविधगतिगतान् दर्शयच्चाग्रिमं तद्,  
वन्दे श्री औपपातं जिननमनमहैः (सञ्चितं नूनमेषः) ॥१२६॥

कुतीर्थिकः पुरा भवञ्जिनान्तराध्वसंश्रितः,

स नाकिधाममोक्षसौख्यसंयुतो भवन् यदा ।

दर्श्यते तदा मुनेः परा रतिः श्रीआर्हते,

राजपृच्छया युतं ह्युपाङ्गराजग्रभ्रकं

(द्वितीयमाश्रयेः सदागमं श्रुतौ रतः सदा) ॥१२७॥

जीवाऽजीवप्रमुख्यान् यदि च दशविधान् सत्पदार्थान् शृणोति ।

साफल्यं तस्य यः स्यादनुमननपटुरित्युपाङ्गं तृतीयम् ।

जीवाऽजीवाऽऽख्यमुख्याऽभिगमपदयुत यद् वृणोन्यर्थभक्त्या, ।  
 वैश्विध्य बुद्धिगम्य द्विविधमुपगत ज्ञानि गस्तागम।त्तम् - ॥१०८॥

॥ विकीर्णानां रक्षाविधिरतुलसाहसकृतिपरा,  
 ॥ सुरत्नाना यद्दद् भवति च पर प्रोतविधिना । ॥ ॥  
 यथा मान प्रोते सुगमविधिना रक्षणविधि,  
 तथाऽनन्ता रयाता सुगमविधिनोपाद्गन्विचितौ ।  
 । ॥ ( तथोपाद्ग तुय ध्रुतिधृतिपरै समुदितम् ) ॥१०९॥

॥ यत्पि पूज्या द्वोपान्तरगा पूज्यगणा सुधिया शुचिकार्या-  
 स्तदपि च जाता ये म्वद्वीपे पूज्यतरास्ते निरुदतरत्वात् ।  
 तत्क्षेत्र महिमाञ्चितिपात्र न्यायमनुस्मृत्यैव विबुधा,  
 जन्तुद्वीपपदोपगताङ्का प्रह्वन्ति महयामि मुदाहम् ॥११०॥

॥ भोगो रथा च विश्वे तनुगृहसिचयाकल्पतल्पादिकाना,  
 ॥ संस्कारान्छुद्धितश्च न तु समधिगते साध्यसिद्धिन्तथैव ।  
 ज्ञानादौ दुर्लभे तत्प्रतिनियतमिह प्रापिते साधुधुय,  
 सरं साध्य सुरेनेह भवति मनश्चित्प्रल्पो रमेत ॥१११॥

॥ मर्यादा रक्षणीया ननु सुपथगतै पूनपुसु प्रवृत्तै-  
 ॥ स्वृण्या नरात्ति सिंहाभक उदितरुचि स्वीकमेवात्ति, भक्ष्यम् ।

तद्वन्मोक्षान्नीहापितगुचिद्दयो वतते सूरिवृत्ते,  
 मार्गे दोषेऽप्रवृत्तो मुनिरुदितवृहत्कल्पसूरं धयन् हि ॥११२॥

शुद्धि पात्रानुकारा न च समविधिना नैव सवक्ष सर्वा,  
 चद्वचारित्रपात्रे न सकलमुनिभिर्नैव चरप्रकार ।

भेदाः पञ्चात्र शुद्धा व्यवहृतिनिपुणाः प्रोचिरे शास्त्रविज्ञ-  
स्तच्छ्रद्धा पात्रविज्ञा व्यवहृतिनिपुणं शास्त्रमेतच्छ्रद्धम् ॥१३३॥

आद्यान्तिमार्हद्वरशासनाश्रितो, द्विसन्ध्यमावण्यकनिर्मितिं गताम् ।  
द्विधौघसंचक्रगतां समादृतिं, श्रीओघनिर्युक्तिमतः श्रयन्तु ॥१३४॥

यथाकल्पं प्रोक्ता मुनिपमहिता कल्पकरणि-  
स्ततः कल्पा ज्ञेया विविधविधिना भूरिभणितीः ।  
बृहत्कल्पे प्रान्त्ये रसमिति मिता या प्रभणिता,  
द्विचत्वारिंशद्भिस्त्थितिरुचिरुपास्याऽत्र कल्पे ॥१३५॥

सूर्याश्चन्द्रमसो जगत्पतितरां तिर्यग् जनानां हिताः ,  
सङ्ख्यातीतमितास्तथापि सुतरां धर्मे कृतानादराः ।  
ते प्राग् जन्मनि, तेन कल्पगमने नापुः परं दैवतं,  
सूर्याच्चन्द्रपदाङ्कितं ननु ततः प्रज्ञप्तियुगमं श्रये ॥१३६॥

निरयावलिकां श्रुतपदगमिकां धर्मविराधनसङ्गतिकां,  
अन्याङ्गानां पञ्चकगानां स्मृततदुपाङ्गदशाश्रयिणाम् ।  
स्मरत सुमतयो गुणततगतयः पञ्चोपाङ्गं घृषरतयः,  
श्रुतमिह सर्व हतमदगर्वं स्तुतमिदमनघपदाप्तिपरम् ॥१३७॥

फलं द्वैधं धर्मे जिनपमतगो सन्मुनिमतं,  
ससाध्यं प्राप्यं वै शिवसुखयुतं नाकिसुकृते ।  
शिवोद्युक्ता भव्या इतर इतराश्रितियुता,  
दशाश्रौते द्वन्द्वं हितकृदितराश्रितमरम् ॥१३८॥

अङ्गाद्या श्रमणत्वपर्पणनामाश्रित्य देया मता-

ऋदाङ्का परिणामिता पुनरुदीकृत्यान्यथा नैव तु ।

सत्यायुत्तमभावुके मतमिदं मात्र श्रुतेस्तुयम्,

श्रीयुक्तं महताङ्कितं श्रयतु तन्त्रेयो निजीवात्मकम् ॥१३९॥

दशेष्वशेषेषु नृपावलीना, साध्या सन्चारपरम्परैः ।

पर विभिन्ना खलु दण्डनीति श्रीजीतकल्प तदिनाश्रयोहितम्

( येन ) ॥१४०॥

पृष्ठा भूमिर्विधिविधिना धान्यसार्थं सदुप्तो,

वृष्टो मेघो विमलदकरानीतयोऽपि विलीना ।

तत्साफल्यं स्वकृतिफलात्तद्वदग्रान्त्यभागे,

धर्मो चेत्स्यात् शरणमुग्रक सश्रयी स्यात् सुभावा ॥१४१॥

मतिं क्षुतेनास्ति न कासिते न, यथैव जायेत नृणां सुयुग्मिनाम् ।

मुनिस्तनोरातुरभावमन्त्ये, ज्ञात्वाऽऽद्रियेतातुरसृष्टिं तत् ॥१४२॥

दीर्घं मान्द्यं यदि च धृतिधरो जीवितान्ते विशङ्की,

दीर्घां कुर्यात् प्रतिपदविधिनाराधना ज्ञानगुख्याम् ।

न्यक्षं द्याता मुनिगणाहितनामातुरेऽत्र विनाल,

प्रत्याख्यानं महत्नुगतं नम्यते नित्यमग्न्यै ॥१४३॥

आराधनामातुरस्याग्न्यमपरा, प्राप्तो मुनिर्भक्तमप्यमेव ।

अन्त्योपगं सवृणुयान्द्रयामि तत् प्रधीणकं भवपरिहृत्योन्तितम् ॥१४४॥

मोक्षाप्तये सन्मुनिरादृतो यत्, मृत्तिं समेष्या विदुषोऽधिगच्छेत् ।

प्राग् द्वादशाङ्गा विन्धीत मले-रुना सुसन्नागगतोऽयमिष्यते ॥१४५॥

सातोदयान्नैव भवन्ति चित्रा, रोगोपसर्गादिसमुद्भवा व्यथाः,  
भवेद् ध्रुवा साऽनशनोत्थिता तकां, सहैत सत्तन्दुलमानत्रोधतः ॥१४६॥

कृता बुद्धिर्धर्मे भवति सुखतो मानवभवे,  
परं चेदन्त्येऽग्रे भवति सुभगा स्याद् गतिरिह ।

दुराराध्यो ह्यन्तो भवति सुगमश्चन्द्रकमिद-

स्ततो विज्ञा वित्तागमममुमभेयादरपदम् ॥१४७॥

नरः कृतज्ञो गुणकृन्नतौ परः, स्तवे परस्तत्स्तुतिकृन्नराणाम् ।

मार्गं प्रदर्श्याहंदिभिष्ट्रवानां, देवेन्द्रस्तुत्या स्मरणात् कृतज्ञता ॥१४८॥

क्षयादि कालादिकृतं तु कर्मणां, प्रायाय बुद्ध्वाऽर्हमुणेद् गणी तकम् ।

विद्या गणीना स्तुतिमर्हतीतो, बुद्धा न यत्साधनविप्रमोषाः ॥१४९॥

सर्वं कृतं स्यात् सफलं मुनीनां, समाधिमाराध्य मृति व्रजेयुः ।

प्रेतान् स्मरेत् तत्सुसमाधिना ये, स्तुत्यस्ततो यो मरणे समाधिः ॥१५०॥

यद्यपि केवलमुत्तममुक्तं, तदपि न तीर्थपदाय समर्थम् ।

नन्दीश्रुतमिह तत्क्षममाप्तै-रुक्तं नाटये यथा वरनन्दी ॥१५१॥

व्याख्यातृवर्ग उदितो जिनमार्गगामी,

लोकोत्तरेतरविधेः प्रभुमार्गमाख्यन् ।

द्वाराणि तद्विधिपराण्यनुयोगयुञ्जि,

भव्यानुयोगकरणे स्मरणं हि तेषाम् ॥१५२॥

जिनागमानां जितरागमाना स्तुयोद्गमानां स्तुतिराप्तमाना ।

जीयाद्यथा सिद्धगिरौ च सूर्य-पुरे शिलाताम्रपटे जिनौकसी

(ऽर्हदागमाः-) ॥१५३॥



न दृष्टो न वित्तो न च जगति वृत्तान्तसरणि-  
 न वार्ता नो शब्दोऽणुरपि च यस्यास्ति विदितः ।  
 न देशो न वेपो न च परिकरस्यांशसरणं  
 कथं ज्ञेयो देवो यदि च न भवतीहागमगतिः ॥१६०॥

न यो द्रव्यं दत्ते द्रविणनिचयं नो न च गृहं,  
 न घोषां नो पुत्रं न च शरणदो रोगनिचितौ ।  
 न यत्प्राताऽरण्ये न भवति चरणे विक्रमपरा-  
 भवे प्राता साधुर्भवति शरणं ह्यागमवलात् ॥१६१॥

यो द्रव्यं ललनां विचित्रविपशान् स्वातन्त्र्यमुत्सादये-  
 दाहारेऽपचिति सदैव गमयेन्निष्काशयेत् कल्पनाम् ।  
 दाने शीलधृतौ तपस्यनुपमे सद्भावनाभावने,  
 भव्यं धर्मवरो नुदन् शरणदो मान्यो भवेन्नागमात् ॥१६२॥

मुक्तिर्नैव भवेद् भवभ्रमिभृतां कालादनादध्रुवात्,  
 सत्यं स्यात्तदिदं यदा नहि भवेन्नाशो ध्रुवाज्ञानगः ।  
 सर्वेषां भवधारिणां विपयजं सौख्यं सनानादिजं,  
 युगमं नश्यदुपेक्ष्यते यदि पुनश्चेज्जैनमार्गागमात् ॥१६३॥

सत्स्वप्नसङ्ख्येषु सदा सुरेषु, तथैव तिर्यक्षु च नारकेषु ।  
 सद्दृक्षु तीर्थं न मतं जिनेशैस्तत्रास्ति यन्नो जिनपागमोदितिः ॥१६४॥

मोक्षे चतुर्गतिभृतां प्रचुरा समीहा,  
 वीर्यं च भूरि तनुवागहृदयोद्भवं च ।  
 सम्यग्दृशः सुमतयश्च तथापि तं न,  
 लब्धा न कोऽपि महिमाऽद्भुत आगमानाम् ॥१६५॥

शून्या सन्वै गतयो न चतस्र आया ,  
 सम्यक्त्वप्रोधयुगलेन, न जातु मुक्ति ।  
 एकस्य तत्र किमु कारणमुज्ज्वल न,  
 चारित्र्यमेव, यदिद निनपागमाऽऽप्यम् ॥१६६॥

सयम सदैव सप्ररोद्धुरो, निजरापि नयनरास्ति तत्र वै ।-  
 नैव मोऽस्ति सयमात्परात्, पर भवेदसौ जिनागमोद्धुरान् धित ॥१६७॥

ऋषेण भेदेन तपेन शुद्धता, यत्नगमाना ततिरुद्धुरा धरेत् ।  
 तन्वै सामान्यतमास्ति त्रिज्ञै-न चागमैरुज्झितमस्ति द्वागनम् ॥१६८॥

द्रव्यै समेतान् समपर्ययान् ये, नृनन्ति ते भोक्षगमाय योग्या ।  
 सत्नगमास्तेर्जिनमूरिधर्मा, भव्यै सदा सैयतमा भवन्ति ॥१६९॥

अष्टौ चरे जैनमतेऽत्र शासने, प्रभायकास्तत्र सदागमात्र छित ।  
 आग्यो भवेत् प्रावचनी परे पुनर्विशेषका नैव तदुज्झिता रत्न ॥१७०॥

भाषाया समितिमता मतिमता वाचश्च गुप्ति परा,  
 य सर्वं दिवस भणेदपि नर शास्त्रोत्तराया विधी ।  
 त्रिह्वीभूय परो नरो यदि पुनर्नैरोशतीह क्षण,  
 नाख्यामू उदिते, सदागममतिर्भूयात्रर सबदा ॥१७१॥

आदशो नैव दत्त करणविधिगतो नैव नैपेधिकोऽपि,  
 शिष्याणा सयमादौ जिनपतिभिरिहैकान्ततो मोक्षमार्गं ।  
 उत्सग सापराद् निनपतिकथित मो रमागप्ररीणा,  
 मन्याना स्युस्तदत्तद्वयनिगन्परो ह्यागम सुज्ञमान्य ॥१७२॥



निरागमा निरम्बरा जने पञ्चमोद्वहा,  
 निरम्बरत्वमेव मार्गमार्हतं त्रुवन्त आः ! ।  
 श्रयन्ति केवलं स्त्रियां न चान्यतीर्थिकादिषु,  
 न चैपणां सदागमांस्ततः श्रयन्ति वित्तमाः ॥१७३॥

यदाऽऽगमानां परमा विभूति-गीतार्थवक्तृत्वसुधीश्रुती श्रिता ।  
 तद्वै धर्मे विजयोऽस्ति जैने न चागमैः शून्यमिहास्ति शासनम् ॥१७४॥

दिगम्बराणां परमेश्वरा इह लिङ्गाण्डयुग्मं जनवद्वरन्ति ।  
 भवन्ति ते हास्यपदं हि लोके, नेयं व्यथा छन्नपदे समागमे ॥१७५॥

नग्नाटा रचयन्ति नादमहितं यज्जैनवाग् नाक्षरी,  
 तिर्यग्वत स्फुटतोञ्जिता ननु सकेत्याहुर्निरागमाः ।  
 ये तु स्वागमसंश्रिता बुधवरास्ते योजनोन्मानगां,  
 मन्वाना जिनवाचमार्हतमतं सर्वाङ्गिवोधं स्तुयुः ॥१७६॥

सामान्येन जनैर्महाङ्कितनिशीथोक्ता मता पञ्चमी,  
 ज्ञानस्योत्तमपर्वतामनुगताऽऽराध्या ध्रुवं सत्तमैः ।  
 चेत् सूक्ष्मैक्षिकया परं यदि समालोचयेत् विज्ञैर्गणे,  
 शब्दास्तेऽशनिवेदिनस्त्विति नयात् सा पञ्चमी स्वागमात् ॥१७७॥

जिनागमानां श्रितसद्गमानां, हतावमानां धृतसत्तमानाम् ।  
 सत्सद्गमानां विमताधमानां, तनोत्वमानां स्तुतिमात्तमानाम् ॥१७८॥

हत्वा विस्तृतमिथ्यात्वाऽऽन्ध्यं कृत्वा कर्मफलं शुभसन्ध्यं,  
 हतकोटाकोट्यधिकं ध्यानध्यं मित्त्वा ग्रन्थिगतं दुरितान्ध्यम् ।

लब्ध्वा सम्यक्त्व गतयान्ध्य धृत्वा मार्गगजनशुभमध्य,  
श्रित्वागममतमुपगुणमध्य गत्वा नन्दत शिरमपवध्यम् ॥१७९॥

सहस्र वक्तृणा भवति च यन्ि प्रावचनिना,  
पन्थाद्योतोत्क जिनपतिमते साम्प्रतगतम् ।  
तथापीष्ट तीर्थे प्रभुवचनसाङ्गत्यनिपुणे,  
यदि स्यात् पुस्तथागमततिगतमेकगदितम् ॥१८०॥

साङ्गत्य भविना मदेष्टमनघ यत्सङ्घवीय महत्,  
तच्छेदागमसङ्गम यदि भवेत् तीर्थोच्छिदे नैव तत् ।  
पूर यत्कमलप्रभेन गणिना चैत्याश्रिताना पुर,  
सिद्धाताध्यनिरूपणेन विहित तीर्थङ्करत्व महत् ॥१८१॥

जिनेन्द्र महत्यन्वह सत् प्रिकाल, विभूत्या महत्या गताऽऽश समग्रम् ।  
विरद्ध यदि स्याज्जिनेन्द्रागमैस्त द्भवस्यैव घृद्ध्यै भवेत्तत्समग्रम् ॥१८२॥

साधुयद्येक ष्वानघजिनमतगतो विद्यते ह्यागमाना,  
श्रद्धावा सत्यमर्थं परमपदमतिस्तीर्णता तत्र साक्षात् ।  
न त्वन्ये प्रभूता जिनपतिगन्तिदागमातीतवान्-  
स्तीर्थ यत्सत्यनिष्ठ जिनकथितमिद तच्छु शुद्धागमीयम् ॥१८३॥

जनेन्द्र शासन तूदितमिह निखिल सापरात् न चान्यत्,  
यावान् स्यात् बन्धहेतुर्भवगतिधरणे मोक्षसाध्येऽपि तावान् ।  
कमाद्धान्त्येकहेतुभवति परमिहोत्तीर्णमासागमान्,  
प्रोज्ज यस्मादनेरे जिनपतिगदितोत्थापका निद्वयवे ॥१८४॥

स्यादागमैकरसिको नर इद्वबोध-स्तत्त्वं शुभं जिनगतं हृदयेऽनुविभ्रत् ।  
जाता तदीयगुणसञ्चयशुद्धतायाः, स्यात्तत्र तत्र परमादरभाक् च नित्यम्

गुर्वाराधनतत्परा नर इमे साक्षात् सहस्रात्परे,

दृश्यन्ते शुभयोगविघ्नविगमे वद्वादराः स्वल्पकाः ।

तेषां या परिसेवना सुविधिना सायल्पकानां यतो,

यः स्यादागमतत्त्वबोधरसिकः स स्यात्तथाचारवान् ॥१९७॥

यो ह्यागमपरतत्त्वमीक्षत इहावर्त्तान्त्यभागागतो,

नाऽसौ पठ्यति धर्मतत्त्वनिपुणः शास्त्रेऽपवादात्मताम् ।

यावच्चक्षुषि वर्त्तते तिमिरकं तावद्यथार्था न दृक्,

तत् सुज्ञः परमादरे धृतमनाः शुद्धागमं संश्रयेत् ॥१९८॥

सुपात्रं यद्दानं भवशतसहस्रेषु सुलभं,

न, जीवानां जातु प्रचुरतरपापाक्तमनसाम् ।

यदा जीवे भावः प्रचुरतरपक्षैकसुभगो,

महादानं लब्ध्वाऽऽगमततिरसश्चेद्ब्रूदि भवेत् ॥१९९॥

अनन्त्यावर्त्तेषु प्रचुरतरसत्पुण्यसुभगं,

भवेद्दानं यस्मात् सुरनरगतं सौख्यमतुलम् ।

अलं मोक्षायैकं भवभयभृतामागममतं,

महादानं प्रान्त्ये सततविधिसत्पात्रसहितम् ॥२००॥

दायं दायं मुनिभ्यो विधियुतममलं दानमाप्नोति सौख्यं,

ध्यायं ध्यायं जिनानां निरघविधिपदं यत् करोत्यागमानाम् ।

धाय धाय गुरूणामनुमतिममला भृत्यवर्गस्य वाधा  
हार हार तदेतच्छिष्यपत्सुभग सेवनीय महाङ्गम् ॥२०८॥

जिना दीश्याया प्राग् प्रति नान तु गरद ,  
मदा प्रोक्त गच्छ जिनमहादानममितम् ।  
यदि श्रित्वा शुद्धागमतिं दानमयने,  
तदतच्छ्रेयस्यै ननु महादानममलम् ॥२०९॥

नानि विशेषो भक्ते प्रीतेर्जिनपवृषान्द्रे,  
ह्यागमवास्यात् सद्बुद्धीना दानादि (सुसृत्) समान्द्रे ।  
सदनुष्ठानेऽस्त्येपोऽयत्रागमे परमान्द्राद्,  
धामानाध सत्माधूना भवेदत एव हि ॥२१०॥

त्यस्त्या गेह तात जननी तनूजमिहानना  
धनु क्षान्तिं पुत्री पुत्र मित्राणि च सौख्यान् ।  
जात माधुमत्साफल्य फालादिविधानतो,  
पिनत सूर्ये चो मधत्तेऽनपागमसन्ततिम् ॥२११॥

पूजा मत्परमेष्ठिना यदि भयान् धुर्यान् त्रिसध्य मत्त,  
पुष्पागमरमाधने गुणितैर्मन्त्रान्तिना सयत् ( त ) ।  
सा चेत्पागमसङ्गता यदि तदाऽद्यापामम्पत्तवे,  
तो वैत् सा परमाधमेद्विशिष्य द्यात सुराणे सुयम् ॥२१२॥

ध्याने चो निरत गुणो गुणिगण मालम्बने गुद्धिदे,  
ध्याताऽर्मा जिनमम्पद् सुरकृता छत्रादिकापूर्जिताम् ।  
दृष्टो नैव जिणो ऽ चाऽमरकृता शोभा प्रतीहारिणी,  
मत्वाऽर्मा जितपागमेभ्य उदितध्यानोऽपरालम्बना ॥२१३॥

मोक्षायोद्यत आर्हतः खलु भवेन प्रीतः पदार्थव्रजं,  
 पर्यायात्मकतां श्रितं प्रणिदधन् मोक्षो भवो नान्यथा ।  
 दुःखेवाऽसुधरो जनो भवततौ शश्वत्सुखं स्वे स्वद्व्,  
 श्रद्धायाऽऽगमसन्ततेः परमिदं युक्तं बुधो मन्यते ॥२०७॥

साध्यं सिद्धिपदं सदा भवभृतां नान्यत्र दुःखान्तको,  
 दुःखाभिन्नमपातसंयुतमलं प्रेप्साश्रितिर्यत्र नो ।  
 तादृक् सौख्ययुतं पदं यदि परं नान्यत् क्वचिद्विद्यते,  
 निश्चेयं पुनरेतदाप्तकथिताच्छुद्धागमात् पण्डितैः ॥२०८॥

नाशास्त्रं मतमस्ति सम्मतिपदं विद्यामुखानां जने,  
 तत्राप्येक उशन्ति वक्तुरहितं तत्कल्पितादीश्वरात् ।  
 एके रागद्विषादिसङ्गतिपरादग्न्यादितः केचन,  
 सर्वज्ञोदितमागमं यदि परं मुक्त्युन्मुखा आर्हताः ॥२१०॥

सत्यं शास्त्रमवाक्कृतैर्नररवैस्तुल्यं परं गम्यते,  
 व्याख्यात्रा निजबुद्धिवैभवलालोके यथाचार्यते ।  
 आरम्भे च परिग्रहे यदि परं ग्रस्ताऽऽनृतं ख्यापये-  
 द्धन्योऽसौ जिनपागमो निगदितो योऽकिञ्चनैः साधुभिः ॥२१०॥

परे जिनोक्तान्मततो विदूरगा वदन्ति भाव विगुणं गतक्रियम् ।  
 परम्परानिर्गतमुद्भवन्ते खपुष्पतुल्यं न तथा जिनागमाः ॥२११॥  
 अनेके गुणाः कारणान्तु स्वकीयात्, प्रजाताः क्षणे नाद्यभाष्यं गुणैस्तत् ।  
 तथोद्भावने तत्परो नैव जैनः, कथञ्चिद् भवेदागमः शुद्धदेष्टा ॥२१२॥  
 द्रव्ये क्रियायां च गुणेषु नित्यं, सत्त्वं परार्थप्रतीतिनिवेद्यम् ।  
 सतो ह्यसत्त्वं परतीर्थिकानां, स्वभावसत्तोद्भवनो जिनागमः ॥२१३॥

समवाय समवायो विदुषा परिपठति कल्पितमत्राये ।  
निखिला गुणान्योऽर्थं, श्रितास्ततो नागमस्त्वेषम् ॥२१३॥

साधर्म्यं वैधर्म्यं, पदाथधर्मो तथा मतिर्मातु ।  
समवेतमेकमयन्न तथेति जिनागमो नैवम् - ॥२१४॥

तादात्म्यतो ह्यभावा , श्रिता पर वस्तु भिन्नताश्रयिण ।  
इदमन्योऽन्यविरुद्ध, न वक्ति जिनपागमो जातु ॥२१५॥

यो ग्रन्थस्य गतान्तरायचरमप्राप्त्यै विधत्ते बुध ,  
शास्त्रे मङ्गलमादित स मनुयात् प्राग् जन्मतो नास्तिकान् ।  
माङ्गल्यैकविधी नु तात नुह धमाद्गुग नास्तिकान्, (?)  
नो जैनागममाश्रित वृत्तगुण ह्याप्त स्मरन् मङ्गले ॥२१६॥

यो जैनागमबाह्यग स मनुते स्रष्टारमुत्कमण,  
जीवानामशुभ शुभ च नियत कर्मोपभोक्तेश्वर ।  
सृष्टेर्यत् प्रविधानमर्हति ननु शून्योऽस्य पुण्य न तत् ,  
मन्येताऽकृतसङ्गम कृतहर्ति हाऽन्यागमाना स्थितिम् ॥२१७॥

रिदित विदुषा निचयस्य सत्ता, नहि कार्यं स्यान् क्रियया रहितम् ।  
मनुते परमेश्वरमक्रियक, समकर्तृपद न जिनागमग ॥२१८॥

मनुतेऽक्षजमथसम ज्ञान, जगता परमीश्वर ऊरीकृते ।  
रहित मतमुत्तमज्ञानमर न जिनागम एवमयुत्तिपर (६) ॥२१९॥

नाकारण कार्यमिहाम्नि किञ्चि-दिति प्रवाणो विदुषा गणैर्मत ।  
सथापि जैनागमबोधशून्या अपितृक पुत्रमुदाहरन्ति ॥२२०॥

न मातृशून्यस्तनयस्य सम्भव, आवाल्लगोपालमिर्नाह सिद्धम् ।  
म्लेच्छा हि तातं परमेश्वरस्य, लुम्पन्त आख्यान्ति प्रभू न

चाऽऽगमाः ॥२२१॥

इमे बाह्यास्तीर्थ्याः कथमपि नहि प्रोतन्ति विभो-  
र्वचस्तेषां कण्ठे लुठन्ति फणिवत्मानरहितम् ।  
समं विश्वे दृश्यं भवति विभुतः काचरहिता-  
दितीक्षित्वाऽयं ना भवति नितरामागमरतः ॥२२२॥

परैः पदार्था उदिता विहीनाः, शक्याऽत्र नाथोऽस्ति विहीनशक्तिः ।  
नासौ क्रिया नैव गुणश्च नाथो, जिनागमज्ञैर्व्यथितं जगत्परम् ॥२२३॥

पदार्थानां चित्रां ननु च जगता शक्तिममितां,  
पृथिव्यम्भोवायुप्रभृतिभावेषु नियताम् ।  
विवुध्याऽध्यक्षं द्राग् यतत इह तन्मतिमती,  
तकां श्रित्वा सम्यग् जिनपकथिताऽऽगमगतिः ॥२२४॥

जाता नैव सचेतना न च पुनश्चैतन्यशून्या अपि,  
तेनानर्हविभागमाहुरनलाः पृथ्व्यादिद्रव्याश्रितम् ।  
भूतग्रामविधानतो विधिरिह प्राणेष्वपि प्रासुके,  
ह्यौदारादिविभागमाहुरमला जैनागमाः सत्पथाः ॥२२५॥

द्रव्याण्यनन्तानि भिदोऽप्यनन्ता, बोध्यानि सर्वज्ञपदोक्तिमानात् ।  
तद्द्रव्य-तद्भेदविधावबोधो विरागसर्वज्ञनरागमे न ॥२२६॥

जीवोत्कमोद्भाविताभूरिभेदाः, क्षित्यादयो नाणुभिदोद्भवास्तत् ।  
अन्यान्यनामेन मिदाविरोध औदारिकाद्या बहुभिज्जिनागमे ॥२२७॥

अनन्ता जर्धना जगति विमित्ते व्यक्त्यनुसृता,  
 द्विकाम्बजाया भवति विज्ञातमिति विना ।  
 ततो ध्वान्तच्छायाप्रभृतिमद्द्रव्यपटुता,  
 जिनोक्ताना सिद्धा प्रमितिपन्मात्तागमतति ॥२०८॥

गुणान् पर्यायाश्चागमततिरिहान्तगणिता-  
 नुनाच प्रत्यर्थं विबुधगण इत्य मतिमयेत् ।  
 शिगुनीडाप्राय परमतततो मानमुद्वित्,  
 न चाध्यश्वो बाधो एवगत इहान्यै कुमतिभि ॥२०९॥

द्रव्ये गुणे परिमितं न कणाद् आह,  
 युक्तं क्रियाभिरनुगामिभिरुत्पथान्यै ।  
 मोक्ता विचक्षणपत्न्या पगभिलापै-  
 नपोऽस्ति विप्लव इहागमसम्प्रदाये ॥२१०॥

वंशेपिनेण प्रिन्ति कथितं स्वसूत्र,  
 व्यावर्त्यधमसंशातमरुमर्नातम् ।  
 त्रियात्रिपु प्रसुरधममुनाच शिष्य,  
 आप्तागमोक्तिरिमुन्वत् प्रिटन्वित विम् ? ॥२११॥

साधम्यान्मित शिव कण्ठुनोऽन्यत्तादितत्त्रापनान्,  
 माहृत्त्या, एवसुरारिगमतयो भक्तध्र वन्तित्तन ।  
 विश्वप्रममात्तामनिगुणान्छाक्या तिरामन्वत,  
 उचुर्गाम्तरण यथा मनिश्रिय (गर्नी) जनागमाम्बद्वयम् ॥२१२॥



त्रानानन्दविवर्जितं खलु शिवं वैशेषिकाः कल्पितै-  
 र्दुःखैर्मुक्तिमिहाक्षपादमतिकैर्वेदान्तिभिर्ब्रह्मणि ।  
 मेलं वैष्णवशैवशास्त्रमतिभिर्देवात्मनोः सहयं;  
 नित्यानन्दसुखाश्रयं गतभवं जैनागमास्तच्छ्रिताः ॥२३३॥

पदार्थं सत्त्वं यन्न च खलु पदार्थात्मनि गतं,  
 स्थितं तत्तस्मिन् यद् वहिरनुगतो बन्धनयतः ।  
 इदं मन्वानोऽयं विदमभिगतेऽर्थेऽखिलगतां,  
 कणादोऽध्यक्षं सा न भवति हतिः स्वागमततौ ॥२३४॥

मोक्षायाऽऽलिखिता शुभा मुनिवरैर्लोकोत्तरा पद्धति-  
 र्वास्या चेत्तनुरर्द्यते रिपुजनैः सत्कार्यते सौहृदैः ।  
 श्रीखण्डेन, तथापि शुद्धमनसः साम्यं द्वयेऽस्मिन् भवेद्,  
 वैराग्याप्तसमज्ञता जिनमते योग्यागमानां ततिः ॥२३५॥

समस्ता विद्वांसो विदितविविधार्थोच्यगणा,  
 न देवाद्यैर्वार्यं मरणमनिशं यन्निखिलगम् ।  
 न चानायुष्कोऽत्राणति विदितसर्वोपधिगण-  
 स्तथाऽप्यङ्गी नित्यं तदुभयमना आगम ऋणः ॥२३६॥

लोकोत्तराध्वगमिता व्रतिनां विशुद्धा,  
 यन्मोक्षमेव विविधक्रिययाऽऽप्तुमिच्छा ।  
 देवासुरादिसुखसाध्यपरा इमेऽन्ये,  
 कोऽन्यो वदेज्जिनवरागमतोऽपरोऽदः ॥२३७॥

दु स सर्वसुरासुरोत्तमान् मृत्योरसूना दृढ,  
 सौर्य पौद्रलजालसम्भवमल स्यात् प्रार्थनाया पन्म् ।  
 एन कमनिगन्धनैकत्रिधुर प्राणी भवेऽटाटयते,  
 धन्योऽय जिनपागमो यदुदिता मोक्षैकमागप्रथा ॥२३८॥

हा हा ! भीषणकाल एष न यत सत्यार्थदृधौ रता ,  
 सूर्याद्या प्रचुराश्च पुस्तकपरावर्त्ताद्यता वादिन ।  
 भूमीशा विबुधाश्च पक्षपतिता दाक्षिण्यलोभोद्यता,  
 अल्पा मार्गरतास्तथापि जयवानाप्तागम शुद्धवाक् ॥२३९॥

स्वप्नोपम, वै सकल द्रुवत्रय, वान्य म्वकीय व्यथित निवेदयेत् । -  
 तथैव सत्र क्षणिक विबोधयत्र चैप वाधस्त्रिगमागमे भवेत् ॥२४०॥

अतीन्द्रियार्थं नहि वेत्ति कश्चि-च्छिन भवो वा न च वेदनीय ।  
 तथापि तद्वाच इय कुतीर्थिता, स्वोस्तेर्न वाधाऽऽगम आप्तसम्मते ॥२४१॥

सौर्य दु स ज्ञान भ्रान्ति, पश्यन् प्राणिषु चित्रविचित्रम् ।  
 आत्मैको विश्वज्यापी वा-वक्ति विरुद्ध न तथाऽऽगमगी ॥२४२॥

चार्याक पूष्टुरुते नाम्नि, परभ्रमगामी चेतनयुक्त ।  
 जातिस्मृतिदु साभ्या निद्ध, आगममेवाऽऽश्रयते शरणम् ॥२४३॥

मान ह्येक मतमध्यक्ष, श्रोतुब् शासन् न धरति लज्जाम् ।  
 शत्रुद्वान्यप्रिनोध कुन-त्राध्यक्षेतरवाद्यागमवाक् ॥२४४॥

## । मुनिवसन-सिद्धिः ।

वितथवाद्शिरोमणितां दधन्, विगतवम्ब इदं जिनशास्त्रगम् ।  
अनृतमाह सुशुद्धसितांबरान्, विविधमोहमुदीरयितुं रयान् ॥१॥

गणभृता गदितं सितवाससां, प्रथमशास्त्रगतं जिनकल्पिनाम् ।  
पद्मधारयतां सिचयावलीं, प्रथममिद्धगुणा ननु नग्नता ॥२॥

वितथवाद्मिमं गतवाससां. गतहृदस्तव मन्वत आस्तिकैः ।  
कृतममन्यत नाप्तमतं यकै-र्वचनमागमगं श्रवणे सुधीः ॥३॥

श्रुतमतं जिनवीरविभोर्न किं, वसनधारणमच्छमुपाश्रितम् ।  
अधिकमासयुतं सुरनायक-प्रणतपादयुगल्य दिगंबर । ॥४॥

श्रुतसमुच्चय आद्य उदीरितं, विमलसंयमशालिजिनांसगम् ।  
'सिचयमाप्तवरैः प्रथमेऽङ्गके, कथय दिग्बसनोऽनृतवाग् न किम् ॥५॥

सुरवितीर्णमुपाश्रितवान् जिनो-ऽम्बरमिति प्रतिपादितवान् गणी ।  
श्रुतसमुच्चय उत्तर आदिमे-ऽङ्ग इह साधुसमूहविराजितः ॥६॥

जगदुरर्हदुपासनतत्परा, गणिवराः श्रुतसागरपारगाः ।  
'वसनमानमुदस्तपरिग्रहा, मनसि बोदिक !- तन् ननु चिन्तय ॥७॥

गणधराः समवायकृतान्तगं, वच इहोदितवन्त उदित्वरम् ।  
चरमतीर्थपतेर्वसनादृता-बधिकवर्षमिति प्रविचिन्तय ॥८॥

इषुमितेऽङ्ग उवाच गणाधिपो, विपुलपर्वत आदृतपादपे ।  
ऋषिवरे खलु खन्धक आर्हती, समुचितापकृति ननु पश्य तन् ॥९॥

## मुनिवचन-सिद्धि

न च वचो प्रचनीयमपाकृत-नयचय जिनकल्पयुजो वैशम्प  
न हि भवति तपे सिचयोज्जिता , सम इहोपधिमेतद्विचित्रता ॥१३॥

न च रूपस्य युक्तिपत् धृते, मुनिररे शुभसयमहेतवे ।  
वपट्ता क्षम उज्जितसङ्गमे रजहरप्रभृता शिवसाधने ॥१४॥

जनिरभूत्व विधितमूह्यता, विश्रयासस उत्तमसाधनात् ।  
इतरथा कथमन्वयवर्जन, तत्र मतस्य रवे स्फुटमीयते ॥१५॥

यदि पर सितवासस उद्धवन्वय मताद् वसनोज्जननर्तनान् ।  
ससिचया इति तस्य मताभिधा, प्रमृमरी भवतीह न चान्यथा ॥१६॥

तव मते धृपसाधन उज्जिते, वतितया चरण न हि साध्यते ।  
शिवपत् न च फेनलयुक् पुन , तद्दृष्टाद्गजहेतुरिलाहति ॥१७॥

न च गताम्बरिका न हि योपित , परमते यन्मा वसनोज्जिता ।  
स्फुटतर तु निभालय योगिनीर्न रुचिर रुचित तव तन्मत ॥१८॥

शिगु-मदात्रि-भूतगणार्दितो, भवति नग्न इहापि न शम्यसी ।  
जिनप-गामनसन्मतमात्रयावमनत्रनमात्रसहते ॥१९॥

स्वपर-लिङ्गि-गृहाधितलिङ्गिना, निगदिता पद्वी शिवभाविनी ।  
धुततर्ता घटत शुभभाविना-मनुमत तदिहाम्बरवर्जित ॥२०॥

ममतया रतितो मुनिराहतो, यदि परो भवतीह शिव गमी ।  
मतमिद सचलापरिर्गित, भ्रयति शुद्धमना धुतभापुक् ॥२१॥